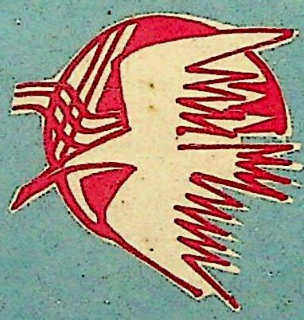
मयूर
पेपरबैक्स



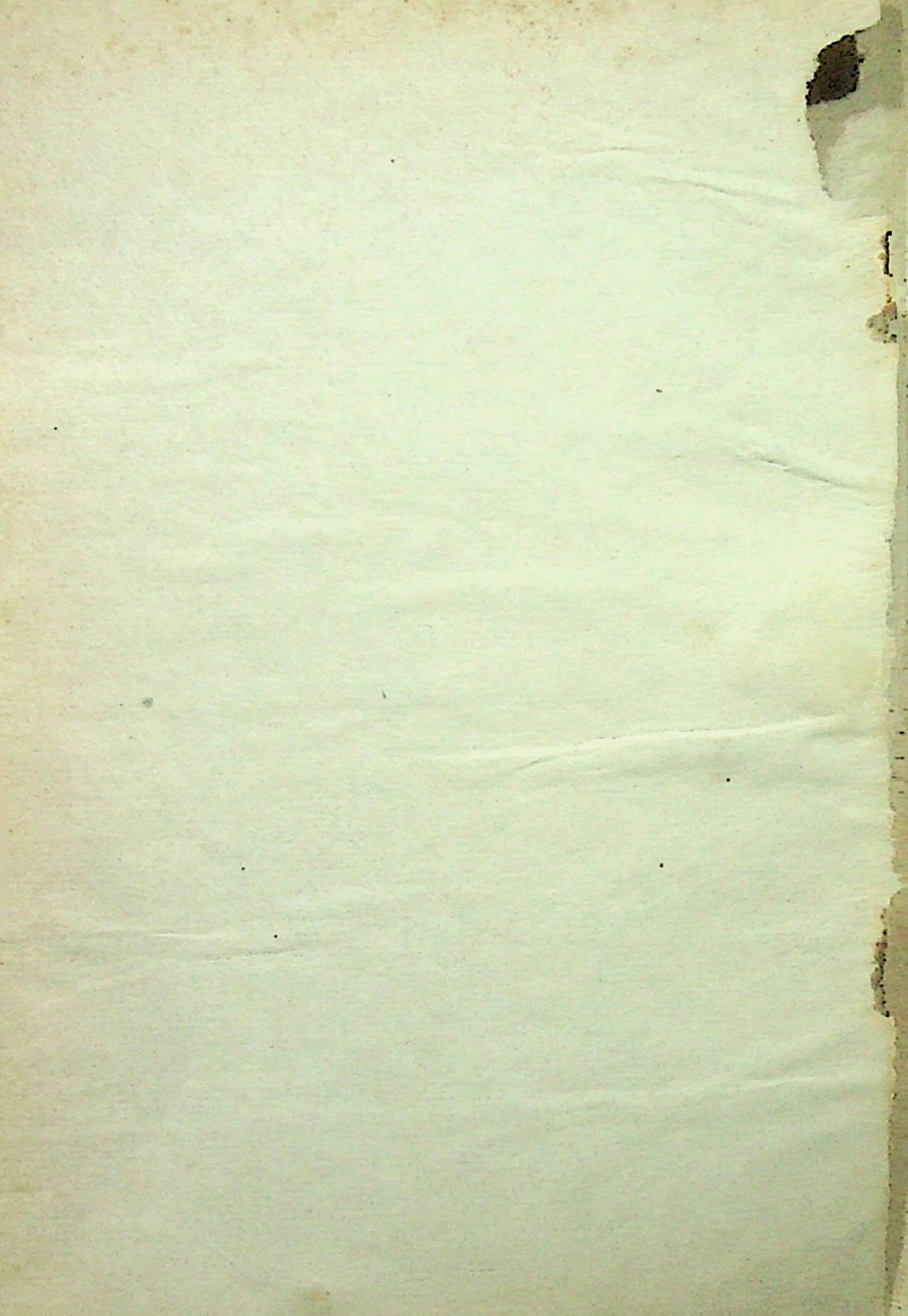
हिंदी साहित्य

महाकवि देव



संपादक

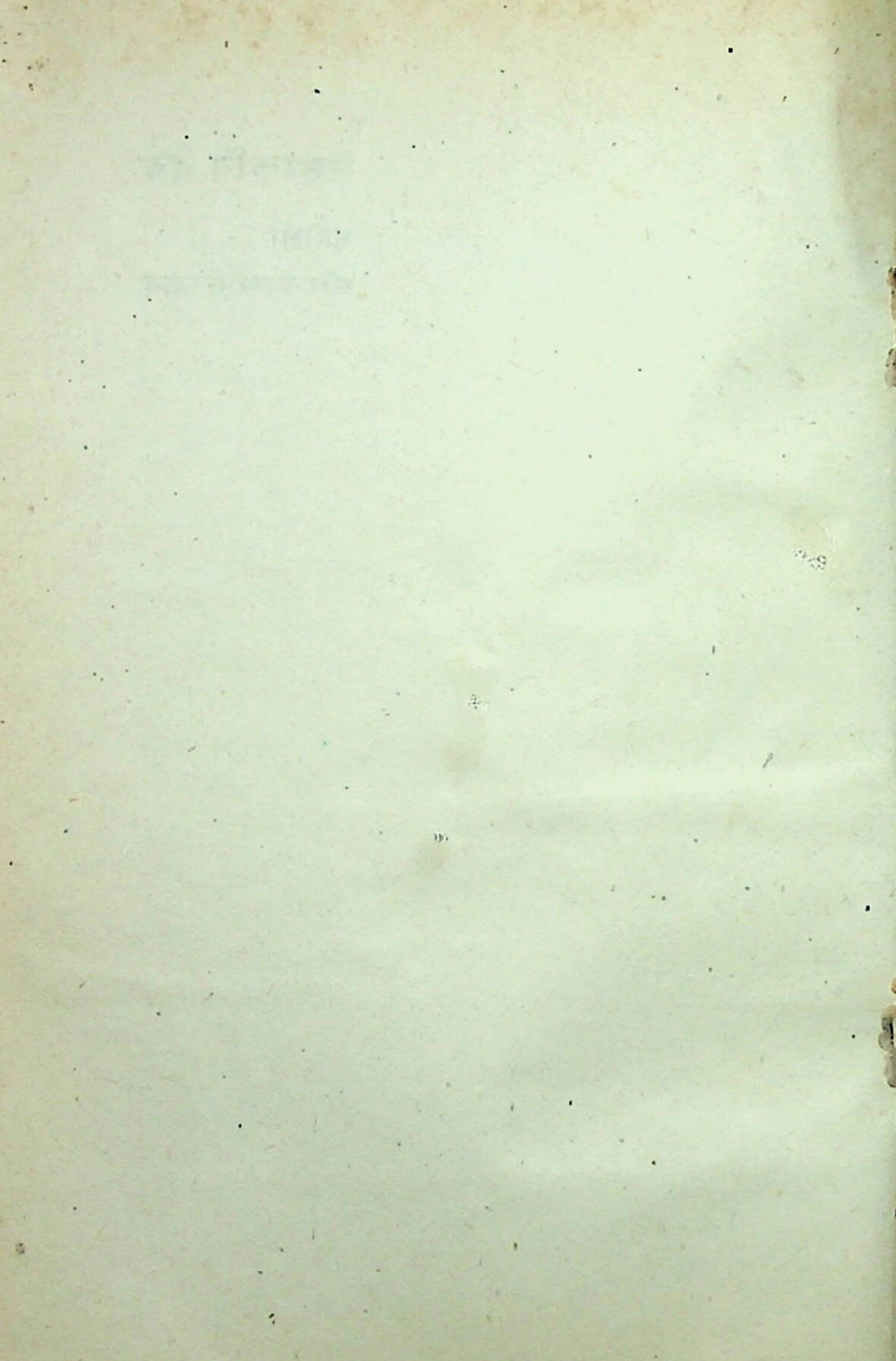
कृष्णचन्द्र वर्मा



महाकवि देव

समीक्षा

और काव्य-संकलन



महाकवि देव

डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा



मयूर पेपरबैक्स



मयूर पेपरबैक्स

ए-९५, सेक्टर-५, नोएडा-२०१३०१

•

तृतीय संस्करण : १९९१

•

सर्वाधिकार : डॉ. कृष्णचन्द्र वर्मा

•

सजिल्द संस्करण नेशनल पब्लिशिंग हाउस
द्वारा प्रकाशित

•

मूल्य : २०.००

•

सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस,
ए-९५, सेक्टर-५,
नोएडा-२०१३०१
में मुद्रित

ISBN 81-7198-039-2

आमुख

देव की कविताओं के बहुत से संकलन नहीं हैं। मिश्रबंधुओं द्वारा देव की कविताओं का प्रथम महत्वपूर्ण संग्रह 'देवसुधा' नाम से सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ था। देव की कविताओं का कोई अन्य उल्लेखनीय संग्रह देखने में नहीं आया। इधर अलीगढ़ विश्वविद्यालय के डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल ने मिश्रबंधुओं के संग्रह-ग्रंथ 'देवसुधा' की ही पूरी-पूरी नकल करते हुए एक और 'देवसुधा' प्रकाशित कराई है जिसमें प्रारंभ के ४४ दोहे और २७२ में से १०४ कवित्त-सवैये ज्यों के त्यों ले लिये गए हैं। देव के कुछ ग्रंथ 'भाव-विलास', 'शब्द-रसायन' आदि बहुत पहले के छपे हुए देखने को मिले हैं तथा उनके कुछ छंद शुक्ल, हरिऔध आदि के इतिहास ग्रंथों में, श्री प्रभुदयालु मीतल द्वारा संपादित 'ब्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद' और 'ब्रजभाषा साहित्य में ऋतु वर्णन' नामक ग्रंथों में तथा डॉ० नगेन्द्र के 'रीति शृङ्गार' और डॉ० जगदीश गुप्त के 'रीति काव्य संग्रह' नामक काव्य-संग्रहों में मिल जाते हैं। उनके द्वारा लिखे ग्रंथों का पाठ-संधान भी इधर हुआ है। उदाहरण के लिए डॉ० ब्रह्मेन्द्रनाथ सिंह (सहायक प्राध्यापक श्योपुर कलाँ, मध्य प्रदेश) ने देव की पाँच महत्वपूर्ण कृतियों का वैज्ञानिक पद्धति पर संपादन किया है किन्तु उनके श्रम का परिणाम अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका है। इधर १९६७ में श्री लक्ष्मीधर मालवीय द्वारा संपादित 'देव ग्रंथावली' का प्रथम खण्ड अवश्य प्रकाशित हुआ है जिसमें देव के केवल ३ ही रीति-ग्रंथ प्रकाश में आ सके हैं—भाव विलास, रस विलास और सुमिल विनोद।

देव रीति-काव्य के उत्कृष्ट कवि हैं। उनकी विशाल काव्य-सृष्टि का परिचायक कोई भी श्रेष्ठ संग्रह आज हमारे सामने नहीं है। इसी अभाव की आंशिक पूर्ति के निमित्त देव की उत्कृष्ट रचनाओं का यह लघु संचयन आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। देव के छंदों के संकलन में मुझे भाव विलास और शब्द रसायन के प्राचीन उपलब्ध संस्करणों, देव सुधा, विभिन्न इतिहास ग्रंथों तथा डॉ० प्रभुदयालु मीतल, डॉ० नगेन्द्र और डॉ० जगदीश गुप्त के संग्रहों एवं डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय की देव ग्रंथावली (प्रथम खण्ड) का सहारा लेना पड़ा है। देव के जिन बीस ग्रंथों को प्रामाणिक और उपलब्ध कहा जाता है, वे सब

आज भी सहज-सुलभ नहीं हैं। जब तक समस्त ग्रंथों का 'देव ग्रंथावली' के क्रम में प्रकाशन नहीं हो जाता तब तक देव की समस्त काव्य-राशि का प्रतिनिधि संकलन तैयार करना संभव नहीं। तब तक के लिए सहृदयों के परितोष के निमित्त देव की १५१ उत्कृष्ट रचनाओं का यह लघु-संग्रह आपकी सेवा में प्रेषित कर रहा हूँ। मुझे आशा है कि देव की समस्त रचनाओं के श्रेष्ठतम अंश का प्रतिनिधित्व करने वाला संग्रह भी भविष्य में प्रस्तुत किया जा सकेगा। साथ में देव के काव्य का सौंदर्य प्रत्यक्ष कराने के उद्देश्य से उनकी एक संक्षिप्त समीक्षा भी दे दी गई है। आशा है, उससे देव के जिज्ञासुओं का भी थोड़ा-बहुत परितोष हो सकेगा।

—कृष्णचन्द्र वर्मा

अनुक्रम

● समीक्षा

१. जीवन वृत्त	१
२. कृतियाँ	५
३. देव का कृतित्व	७
४. रीतिशास्त्रीय ग्रंथ	६
५. शृंगार काव्य	१७
६. भक्ति, वैराग्य एवं तत्त्वचिन्तन	३८

● काव्य-संकलन

१. रूप-सौन्दर्य	४६
२. प्रणय	५६
३. ऐश्वर्य	७०
४. विरह	७२
५. ऋतु और प्रकृति	७८
६. रीति	८७
७. लीला	६४
८. उद्धव-गोपी प्रसंग	६७
६. भक्ति, वैराग्य एवं तत्त्वचिंतन	६६

सूर-सूर तुलसी सुधाकर नछत्र केसौ,

सेस कविराजन कों जुगनू गनाय कै।

कोऊ परिपूरन भगति दरसायो, अब

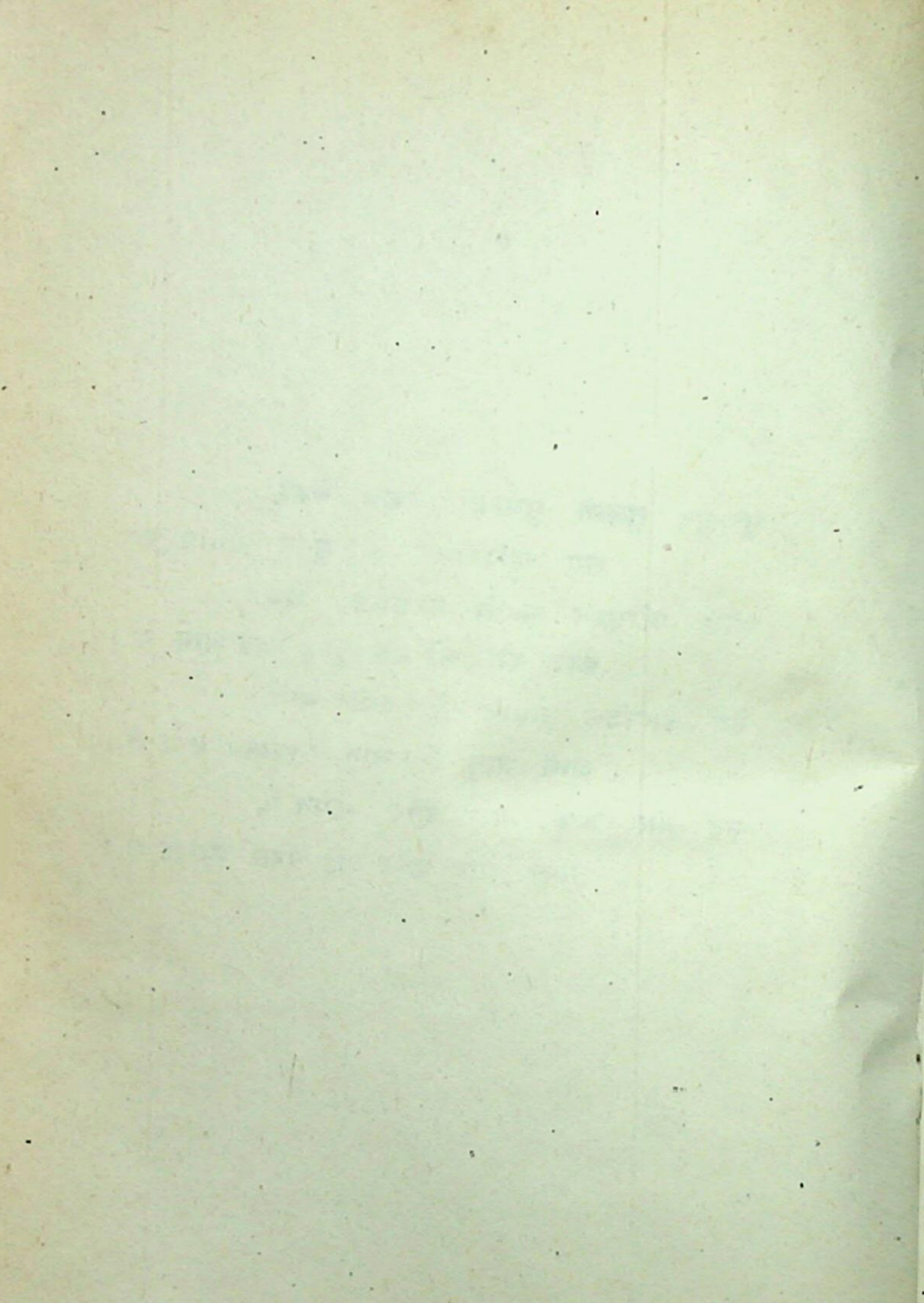
काव्य रीति मो सन सुनहु चित लाय कै।

देव नभमंडल समान हैं कबीन मध्य,

जामैं भानु सितभानु तारागन आय कै।

उदै होत अथवत चारों ओर भ्रमत पै,

ताको ओर छोर नहिं परत लखाय कै।



१

जीवन-वृत्त

देव कवि का पूरा नाम देवदत्त था तथा ये अपने कवित्त-सवैयों में 'देव' शब्द का ही प्रयोग करते थे जिससे देव इनका उपनाम या कविनाम हो गया। कई बार अपने ग्रन्थों के अन्त में या उनके परिच्छेदों के अन्त में इन्होंने अपने पूरे नाम 'देवदत्त' का भी प्रयोग किया है। इनके प्रपौत्र भोगीलाल भी इनका नाम 'देवदत्त' ही बताते हैं—'देवदत्त कवि जगत में भए देव रमनीय।' इनके जन्म-काल, वंश और निवास-स्थान आदि का पता इनकी प्रसिद्ध कृति 'भाव-विलास' से चलता है—

> शुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
> कढ़ी देवमुख देवता, भाव विलास सहर्ष॥
> द्यौसरिया कवि देव को, नगर इटायो बास।
> जोवन नवल सुभाव रस, कीन्हीं भाव विलास॥

पहले दोहे के अनुसार सं० १७४६ में ये १६ वर्ष के थे अतएव इनका जन्मकाल सं० १७३० ठहराता है। दूसरे दोहे में देव ने अपने-आप को इटावा जिला (उत्तर प्रदेश) का निवासी द्यौसरिया ब्राह्मण बतलाया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण बतलाया है जो ठीक नहीं। द्यौसरिया को धौस-रिया पढ़ने के कारण यह गलती उनसे तथा उनके पूर्ववर्ती विचारकों से हुई। धौसरिया सनाढ्य ब्राह्मणों की एक अल्ल होती है और इटावा सनाढ्यों की बस्ती थी, अतएव इस भ्रान्ति का फैलना स्वाभाविक था; परन्तु यह बात अब सिद्ध हो चुकी है कि देव सनाढ्य ब्राह्मण न थे वरन् कान्य-कुब्ज थे, जिनकी आज भी इटावे में कमी नहीं। वहाँ देव के वंशजों के दो-तीन घर अब भी मिलते हैं ऐसा डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है। देव कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, काश्यप उनका गोत्र था और दुसरिहा या द्यौसरिया उनकी अल्ल थी। देव के प्रपौत्र भोगीलाल ने अपने रस-ग्रन्थ 'बखत-विलास' में जो स्ववंश विवरण दिया है उससे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है—

> काश्यप गोत्र द्विवेदि कुल, कान्यकुब्ज कमनीय।
> देवदत्त कवि जगत में, भए देव रमनीय॥

देव के पिता का नाम बिहारीलाल दुबे था तथा देव के दो पुत्र थे—भवानीप्रसाद और पुरुषोत्तम, जिनके वंशज क्रमशः इटावे और कुसमरा में अब भी विद्यमान हैं। देव कवि २६-३० वर्ष तक इटावे में रहने के बाद कदाचित् कुसमरा नामक गाँव में जाकर रहने लगे थे। इटावा-फर्रुखाबाद की सड़क पर इटावा से ३० मील की दूरी पर सड़क से दो फर्लांग अन्दर की तरफ कुसमरा नामक गाँव स्थित हैं जहाँ उनके वंशज मातादीन दुबे का मकान है। यहीं पर देव जी की बगीची के अवशेष अब भी मिलते हैं। इसी कुसमरा नामक गाँव में देव की गृहस्थी थी तथा ये विविध आश्रयदाताओं के यहाँ आया-जाया करते थे।

देव के जीवन के सम्बन्ध में कुछ विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होते। डॉ० नगेन्द्र ने अपने शोध-प्रबन्ध के सिलसिले में देव के निवास-स्थान कुसमरा, इटावा आदि की यात्रा की तथा देव के वंशज मातादीन दुबे से देव के सम्बन्ध में स्थानीय रूप से प्रचलित कुछ किंवदन्तियों की भी जानकारी संगृहीत की है जिसका सम्बन्ध देव के विद्याध्ययन-काल से है तथा भरतपुर एवं अलवर-नरेशों से भी। इनके आधार पर पता चलता है कि देव एक स्वाभिमानी व्यक्ति थे, किसी की कृपा पर रहना इन्हें नहीं रुचता था, साथ ही धन-वैभव का भी इन्हें लोभ न था फलत. अन्तिम समय में इन्हें आर्थिक विपन्नता सहनी पड़ी। इन्हें वाणी की सिद्धि थी, अर्थात् इनकी कही हुई बातें प्रायः सत्य ही होती थीं। ये निर्भीक और दो-टूक बात कहने वाले आदमी थे। संभव है अपनी इसी प्रकृति के कारण ये किसी एक आश्रयदाता के यहाँ जमकर न रह सके। यह तो प्रसिद्ध और सर्वविदित ही है तथा उनकी रचनाओं से भी प्रकट है कि देव कवि किसी भी राज्याश्रय में अधिक काल तक न रह सके। जगह-जगह आश्रय की खोज में इन्हें जाना पड़ा। रीतिमुक्त कवियों में बोधा की भी यही स्थिति रही है। किसी भी राजा या रईस का आश्रय यथावांछित रूप में अनुकूल न रहा हो, देव की निजी रुचि किसी आश्रयदाता या स्थान-विशेष से पूर्णतः तुष्ट न हो सकी हो, अपने स्वभाव के कारण ये कहीं अधिक काल तक न खप सके हों, तरुणावस्था में देशाटन आदि का विशेष चाव रहा हो आदि ऐसा ही कोई-न-कोई कारण होना चाहिए जिसने देव को इधर-उधर काफी भटकने को बाध्य किया होगा। देव का 'जाति विलास' नामक ग्रन्थ इनके विशद देशाटन के अनुभवों का ही परिणाम बताया जाता है जिसमें इन्होंने विविध जातियों और प्रदेशों की स्त्रियों (या नायिकाओं) का वर्णन किया है। ये वर्णन सर्वत्र यथार्थ और सटीक ही हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जो हो, इससे इनकी रसिकता और जीवन-दृष्टि पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

आश्रय और प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए देव जिन-जिन रईसों-राजाओं के यहाँ गये, उनमें सर्वप्रथम थे औरंगजेब के पुत्र आजमशाह, जिन्हें इन्होंने अपनी

दो ग्रन्थ 'अष्टयाम' और 'भाव-विलास' सुनाये तथा समर्पित किये। आज़मशाह काव्यानुरागी व्यक्ति थे, उन्होंने देव की रचनाओं की सराहना की तथा इन्हें प्रोत्साहित भी किया—

दिल्ली पति अवरंग के, आजमसाहि सपूत।
सुन्यौ सराह्यौ ग्रन्थ यह, अष्टयाम-संजूत॥

इसके बाद ये चर्खी-दादरी के राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य के आश्रय में रहे तथा उन्हीं के नाम पर 'भवानी-विलास' नामक ग्रन्थ लिखा। देव के तीसरे आश्रयदाता थे फफूँद रियासत के राजा कुशलसिंह, जिनके लिए इन्होंने 'कुशल-विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की। मनोनुकूल आश्रय-दाता न मिलने के कारण ये बहुत जगह भटकते फिरे और सम्भवतः इसी संदर्भ में इन्होंने देश के विविध-भागों की लम्बी-चौड़ी यात्रा भी की। सं० १७८३ के लगभग एक अपेक्षाकृत अधिक गुणज्ञ आश्रयदाता इन्हें मिले जिनके लिए इन्होंने अन्य आश्रयदाताओं का त्याग करना ही उचित समझा—

पावस घन चातक तजै, चाहि स्वाति जल विन्दु।
कुमुद मुदित नहिं मुदित-मन, जौ लौं उदित न इन्दु॥
देव सुकवि तातें तजें, राइ रान सुलतान।
'रस-विलास' सुनि रीझिहैं, भोगीलाल सुजान॥

भोगीलाल को प्रसन्न करने के लिए ही इन्होंने 'रस-विलास' नामक ग्रन्थ लिखा। उसमें इन्होंने राना भोगीलाल की प्रशंसा इस प्रकार की है—

भूलि गयौ भोज बलि विक्रम बिसरि गए
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं।
भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं॥

भोगीलाल काव्य-प्रेमी और गुणज्ञ थे परन्तु देव ठहर वहाँ भी न सके। देव की रुचि इनमें से किसी पर भी स्थायी रूप से न जम सकी और न ही कोई आश्रयदाता इन्हें आर्थिक चिन्ताओं से कदाचित् आजीवन मुक्त करा सकने की सामर्थ्य रखता था। देव की निर्भीकता और दुर्दमनीय स्वाभिमान भी कारण हो सकता है। इस समय तक ये ५३ वर्ष के हो चुके थे, राजा-रईसों के आश्रय का सम्भवतः कुछ बहुत अच्छा अनुभव इन्हें न था। पराधीनता में सुख कहाँ! तज्जन्य ग्लानिवश इन्होंने 'नरिन्दों' को छोड़ गोविन्द की शरण में जाना अधिक श्रेयस्कर समझा। स्वयं 'रस-विलास' ही इसका प्रमाण है—

बीच मरीचन के मृग लौं अब धावै न रे सुन काहू नरिन्द के।
इन्दु सी आनन तू जु चितै अरविन्द से पाँयन पूजि गुविन्द के॥

परन्तु ये गोविन्द की शरण जा न सके। जीवनव्यापी कवि-वृत्ति ने इन्हें वैराग्य न लेने दिया और इन्हें अन्यान्य आश्रयदाताओं की शरण स्वीकार करनी पड़ी। ये इटावा के समीपस्थ ड्योंढ़िया खेरा के जमींदार मर्दनसिंह के पुत्र उद्योतसिंह वैश्य के यहाँ कुछ समय तक रहे और उनके लिए इन्होंने प्रेमचन्द्रिका की रचना की। इसके बाद देव कवि दिल्ली के रईस कायस्थ (नरोत्तमदास के पुत्र) पातीराम के पुत्र सुजानमणि के आश्रय में भी रहे जो अत्यन्त सम्पन्न, काव्यरसिक और दानशील व्यक्ति थे। इनके लिए सं० १७९० से १७९५ के बीच किसी समय देव ने 'सुजान-विनोद' नामक ग्रन्थ लिखा। सुजानमणि ने देव को दान-सम्मान द्वारा पर्याप्तरूपेण तुष्ट किया। इसके अनन्तर देव की जो रचनाएँ प्राप्त होती हैं—शब्द-रसायन, देवमाया-प्रपंच, देवशतक या वैराग्य-शतक आदि—वे किसी को समर्पित नहीं हैं जिससे यह अनुमान होता है कि सं० १८०० के आस-पास देव कुसमरा में ही जाकर रहने लगे थे। वृद्धावस्था में शांतिप्रियता की रुचि स्वाभाविक है। बहुत समय तक अपने गाँव में शान्त जीवनयापन के बाद भी राज-सम्पर्क से इन्हें मुक्ति न मिल पायी। भरतपुर और अलवर की रियासतों के राजाओं से भी इनका थोड़ा-बहुत सम्पर्क हुआ यद्यपि इन संबंधों की परिणति कुछ कटुतापूर्ण ही रही। देव के अन्तिम आश्रयदाता थे पिहानी राज्य के अधिपति अकबर अली खाँ, जो एक वीर पुरुष होने के साथ-साथ काव्य-प्रेमी भी थे। सं० १८२४ में देव ने अपना ग्रन्थ 'सुखसागर-तरंग' उन्हें समर्पित किया जिसमें इनकी बहुत-सी पहले की रचनाएँ संगृहीत हैं। इसके कुछ दिनों बाद ही सं० १८२४-२५ में लगभग ९४-९५ वर्ष की आयु में देव कवि का निधन हुआ होगा। कुसमरा में ही इनकी मृत्यु हुई।

जिस कवि ने बार-बार राजा-रईसों के आश्रय के कटु अनुभव के अनन्तर 'नरिन्दों की मृगमरीचिका से मुक्त हो गोविन्द के चरणों को ग्रहण करने' की इच्छा प्रकट की है और चंचल मन के हाथ-पैर तोड़कर नरनाहों की आज्ञाओं की उपेक्षा कर उसे राधावर के बिरद-वारिधि में डुबोने की अभिलाषा व्यक्त की है, यह परिस्थितियों की ही विडम्बना है कि ९४ वर्ष की वृद्धावस्था में भी उसे अकबर अली खाँ के यहाँ हाथ जोड़कर खड़ा होना पड़ा। माया का दुर्निवार बंधन मनुष्य के काटे नहीं कटता, देव का जीवन इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है।

देव को कुछ लोगों ने हितहरिवंश, कुछ ने निम्बार्क तथा कुछ ने राधा-वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित बतलाया है परन्तु इस सम्बन्ध में अंतःसाक्ष्य तो कुछ है नहीं, कोई विश्वसनीय बहिःसाक्ष्य भी उपलब्ध नहीं होता। देव एक शृङ्गारी कवि थे। उनकी शृंगार-भावना में कोरी रसिकता का छिछलापन नहीं है। उसमें प्रेम-निष्ठा की कुछ गहराई भी है। वे प्रेम और भोग के साथ-साथ भक्ति

और वैराग्य के प्रगाढ़ भावों के भी कवि हैं। उनमें गाढ़ शृंगारिकता के साथ-साथ सच्चे ईश्वर-प्रेम की भी वृत्ति दिखायी देती है। मगध, अन्तर्वेद, मालवा, केरल, द्रविड़ भूमि, भूटान, कश्मीर आदि सुदूर भूभागों की यात्रा के कारण इनकी काव्याभिरुचि और जीवन-दृष्टि में निश्चित विकास हुआ होगा तथा इनमें अनुभव तथा अनुभूतियों की सम्पन्नता भी विशेष हुई होगी। इनके काव्योत्कर्ष में इनके जीवनानुभवों का सुनिश्चित योग रहा है। इन्होंने जीवन के अनुभवों के साथ-साथ पर्याप्त ज्ञान भी अर्जित किया था—संस्कृत, प्राकृत और भाषा-साहित्य के साथ-साथ इन्होंने दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि का भी अच्छा अध्ययन किया था। इन कारणों से देव हिन्दी के श्रेष्ठतम कवियों में परिगणित होते हैं।

२
कृतियाँ

परम्परागत रूप में यही प्रसिद्ध है कि देव ने ७२ ग्रन्थ लिखे। किसी-किसी ने इस संख्या को ५२ भी कहा है पर सभी ग्रन्थों की अद्यावधि उपलब्धि नहीं हो सकी है। सम्भव है देव की रचनाओं के किसी अनुरागी को इतने ग्रन्थ प्राप्त रहे हों। देव की अनेकानेक कृतियों में कई छन्द ऐसे हैं जो समान रूप से मिल जाते हैं। बात यह है कि नये-नये आश्रयदाताओं को इन्हें ग्रन्थ समर्पित करना पड़ता था। नये न लिख सकने की स्थिति में ये पूर्ववर्ती रचनाओं के छन्दों को ही जोड़-तोड़कर या कुछ हेर-फेर के साथ नये ग्रन्थ तैयार कर देते होंगे। डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार आज देव की उपलब्ध कृतियों की संख्या १८-२० से अधिक नहीं—

१. भाव-विलास	२. अष्टयाम	३. भवानी-विलास
४. शिवाष्टक	५. प्रेम-तरंग	६. कुशल-विलास
७. जाति-विलास	८. रस-विलास	९. प्रेमचन्द्रिका
१०. सुजान-विनोद या रसानन्द-लहरी	११. राग-रत्नाकर	१२. शब्दरसायन
	१३. देव-चरित्र	१४. देवमायाप्रपंचनाटक
१५. देव-शतक	१६. सुखसागर-तरंग	१७. शृंगार-विलासिनी

उक्त १७ ग्रन्थों के अन्तर्गत देवशतक में ही ४ छोटी-छोटी रचनाएँ शामिल हैं—जगद्दर्शन-पचीसी, आत्मदर्शन-पचीसी, तत्त्वदर्शन-पचीसी, प्रेम-पचीसी। इस

प्रकार कुल प्राप्त ग्रन्थों की संख्या २० हो जाती है। इसके अतिरिक्त भी जो ग्रन्थ देव-कृत बताये जाते हैं उनकी नामावली इस प्रकार है—

१. प्रेम-दीपिका २. सुमिल-विनोद ३. राधिका-विलास ४. पावस-विलास
५. वृक्ष-विलास ७. नख-शिख ६. प्रेम-दर्शन (या नख-शिख-प्रेमदर्शन)
८. नीति-शतक ९. वैद्यक ग्रन्थ १०. सुजान-चरित्र ११. सुन्दरी-सिंदूर
१२. वखत-विलास १३. वखत-विनोद १४. वखत-शतक १५. वृत्त-मंजरी
१६. माधवगीत १७. कालिका-स्तोत्र १८. नृसिंह-चरित्र १९. प्रधान-शतक

देव-कृत कुछ संस्कृत-ग्रन्थ भी कहे गए हैं—

१. श्रीरघुनाथलहरी २. शक्तिविलास ३. श्रीलक्ष्मीनृसिंह-पंचाशिका
४. मनोभिनन्दिनी ५. महावीर-मल्लारि-स्तोत्र या देवाष्टक
६. शिवपंचाशिका ७. साम्बशिवाष्टक ८. लक्ष्मीदामोदरस्तोत्र
९. शक्ति विलास १०. रागविलास ११. वरुणाष्टकस्तोत्र १२. शुकाष्टक।

ये सभी ग्रन्थ मिलकर (२०+१९+१२)=५१ की संख्या में हो जाते हैं। परन्तु ये सभी प्रसिद्ध कवि देव के ही हैं, इसमें सन्देह है। प्रथम २० ग्रन्थों के अतिरिक्त जिन ग्रन्थों का उल्लेख ऊपर हुआ है उनके नाम ही मिलते हैं, ग्रन्थ नहीं। परम्परा-प्राप्त इन नामों से क्या होता है जब तक कि मूल ग्रन्थ ही प्राप्य न हों। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि देव ने और भी ग्रन्थ लिखे होंगे। इस सम्भावना का निषेध नहीं किया जा सकता, पर वे सब अब प्राप्त नहीं हैं। एक संभावना यह भी है कि देव नाम के और जो कवि हिन्दी में हुए हैं उन सबके ग्रन्थों को जोड़कर एक ही देव के ग्रन्थ किसी ने मान लिये हों और कहीं लिपिबद्ध भी कर दिया हो और इस प्रकार देव के नाम से ७२ या ५२ ग्रन्थों के लिखे जाने की रूढ़ि बन गई हो। सत्य जो भी हो, देव का वही कृतित्व आज हमारे सामने विचारणीय है जो प्रामाणिक रूप से उनका कहा गया है और इस दृष्टि से उपर्युक्त विवरण में आये २० ग्रन्थों तक ही हमारी गति हो सकती है।

देव के कुछ ग्रन्थों के दो-दो नाम भी प्रचलित हैं जैसे देवशतक या वैराग्यशतक, सुजान-विनोद या रसानन्दलहरी, शब्दरसायन या काव्यरसायन।

३

देव का कृतित्व

रीतियुगीन कवियों में देव कवि की ख्याति केशवदास, बिहारी और पद्माकर के समान तो नहीं थी, परन्तु उनकी महत्ता सदा स्वीकृत हुई है तथा रीतियुग के उक्त तीन कवियों के अतिरिक्त अन्य कोई कवि देव से अधिक ख्याति प्राप्त कर सका है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक देव के काव्य के गुणात्मक उत्कर्ष का सवाल है यह वाद-विवाद का विषय भले ही रहा हो, परन्तु रीतियुग के कवियों में देव का सुनिश्चित महत्त्व कभी भी अस्वीकार नहीं किया जा सका। रीति-युग के महत्त्वपूर्ण काव्य-मर्मज्ञों—भिखारीदास, सूदन, कालिदास त्रिवेदी, दलपतिराय, बंशीधर, प्रतापसाहि, गोकुलप्रसाद, सरदार कवि, देव के प्रपौत्र भोगीलाल—आदि ने अपने ग्रन्थों में देव कवि का महत्त्व कथित और स्वीकृत किया है। आधुनिक युग के आरम्भ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, ठा० शिवसिंह सेंगर और पं० बालदत्त मिश्र ने देव के महत्त्व की प्रतिष्ठा में योग दिया है। ये पं० बालदत्त मिश्र हिन्दी-आलोचना-जगत् में देव की प्रतिष्ठा करने वाले मिश्र बन्धुओं के पिता थे जिन्होंने सं० १९५४ में देव के 'सुखसागर-तरंग' नामक काव्य-संग्रह का प्रकाशन कराया तथा उसकी भूमिका में मध्ययुग के पाँच कवियों को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया—सूर, तुलसी, केशव, बिहारी और देव। उन्होंने अपनी भूमिका में देव कवि के किसी अनन्य भक्त द्वारा लिखा गया देव कवि की महत्ता प्रतिपादित करने वाला यह छन्द प्रस्तुत किया था

सूर-सूर तुलसी सुधाकर नछत्र केसौ,
सेस कविराजन कों जुगनू गनाय कै।
कोऊ परिपूरन भगति दरसायो, अब
काव्यरीति मो सन सुनहु चित लाय कै।
देव नभ मंडल समान हैं कवीन मध्य,
जामैं भानु सितभानु तारागन आय कै।
उदै होत अथवत चारों ओर भमत पै,
ताकौ ओर छोर नहि परत लखाय कै॥

सूर, तुलसी, केशव आदि को सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा अन्य कवियों को उडुगन कहा जा चुका था. ऐसी स्थिति में देव की प्रतिष्ठा बिना किसी ऐसे प्रतिष्ठा-ज्ञापक छन्द की रचना के सम्भव न थी, कम-से-कम लोक-दृष्टि में। उसी लोक-दृष्टि को आकर्षित और चमत्कृत करने के उद्देश्य से किसी ने उक्त छन्द की रचना कर डाली। हिन्दी-समीक्षा के सूत्रधारों में गण्यमान्य मिश्रबन्धुओं ने भी

इस सूत्र को अपने पिताजी से ही ग्रहण किया और उसे अग्रसर करते हुए 'हिंदी-नवरत्न' में देव की असाधारण प्रतिष्ठा का भरपूर प्रयत्न किया। यह बात है सं० १६६७ की। देव हिंदी के सबसे बड़े कवि हैं या सूर और तुलसी के बाद महत्त्व की दृष्टि से देव का ही नंबर आता है या देव आकाश के तुल्य हैं जिसका ओर-छोर सूर्य (सूरदास), चंद्रमा (तुलसीदास) और नक्षत्रादि (केशव आदि) चक्कर खा-खाकर भी नहीं पा सकते—ये सारी बातें चौंकानेवाली थीं और समीक्षा के अखाड़े में (जो अभी-अभी खोदा और गोड़ा गया था) खलबली मचा देने वाली थी। इन बातों से हिंदी समीक्षा के कई पहलवानों में गर्मी आ गई और वे खम ठोंक-ठोंक कर अखाड़े में उतर पड़े। 'हिंदी-नवरत्न' के जवाब में पं० पद्मसिंह शर्मा का 'सतसई-संहार' और 'सतसई-संहार' के मुकाबले में पं० कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' और उसके खण्डन के लिए लिखी गई लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव,' आति पुस्तकें सामने आयीं जिनसे तुलनात्मक समीक्षा का मार्ग भले ही प्रशस्त हुआ हो, परंतु एक भद्दा झगड़ा सामने उपस्थित हो गया। तमाशाइयों के लिए वह रोचक भी रहा। इस झगड़े में हालांकि ज्यादा तो नहीं परंतु एक सीमा तक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ऐसे स्थिरमति और संतुलित समीक्षक को भी अपना संतुलन खो देना पड़ा (सं० १६८६)। सं० २००६ (सन् १६४६) में देव पर एक स्वस्थ और संतुलित शोधप्रधान समीक्षा-कृति डॉ० नगेंद्र ने प्रस्तुत की जो अद्यावधि देव का श्रेष्ठतम अध्ययन कहा जा सकता है।

देव कवि द्वारा निर्मित विशद काव्य त्रिविध है—१. रीतिशास्त्रीय ग्रंथ, २. शृंगारिक काव्य, ३. भक्ति, वैराग्य एवं तत्वचिंतन-संबंधिनी कविता। ये तीनों प्रवृत्तियां उनमें नितांत स्पष्ट लक्षित होती हैं जैसा कि बहुतेरे रीतिबद्ध कवियों में देखा जा सकता है। शृंगारिक काव्य स्वतंत्र ग्रंथों के साथ-साथ देव के रीति-ग्रंथों में औदाहरणिक भाग के रूप में सर्वत्र विद्यमान है अतएव उनके शृंगारी साहित्य के परिशीलन के लिए शुद्ध शृंगार-वर्णन के लक्ष्य-ग्रंथों के साथ-साथ उनके लक्षण-ग्रंथों का भी अध्ययन आवश्यक है। अब हम देव-काव्य की इन्हीं तीनों प्रवृत्तियों का अलग-अलग संक्षिप्त अध्ययन करेंगे।

४
रीतिशास्त्रीय ग्रन्थ

देव के लिखे जो १८-२० ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें से अधिकांश रीति-ग्रन्थ ही हैं। भाव-विलास, अष्टयाम, भवानी-विलास, प्रेम-तरंग, कुशल-विलास, जाति-विलास, रस विलास, प्रेम-चन्द्रिका, सुजान-विनोद या रसानन्द-लहरी, राग-रत्नाकर, शब्दरसायन और सुखसागर-तरंग।

भाव-विलास—(रचना-काल सं० १७४६)—यह देव की प्रथम रचना है जिसे लेकर दूसरी कृति अष्टयाम के साथ ये आज़मशाह के दरबार में प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए पहुँचे थे। भानुदत्त-कृत रसतरंगिणी (संस्कृत-ग्रन्थ) के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसमें प्रधानता की दृष्टि से महत्त्व देते हुए केवल शृंगार रस तथा नायिका-भेद एवं अलंकारों का वर्णन-विवेचन हुआ है। ग्रन्थ में ५ विलास हैं—पहले में स्थायीभाव, विभाव और अनुभवों का वर्णन है, दूसरे में संचारियों का वर्णन है। संचारीभावों के दो भेद किये गए हैं—शारीर (सात्त्विक भाव) और आन्तर (निर्वेद आदि)। आन्तर संचारियों की संख्या ३४ है जिसमें ३३ प्रचलित संचारियों के साथ-साथ छल नामक संचारी भाव और बताया गया है। वितर्क नामक संचारी भाव के भी ४ भेद किये गये हैं—विप्रतिपत्ति, विचार, संशय और अध्यवसाय। तीसरे विलास में रस का वर्णन है जिसके दो भेद हैं लौकिक (शृंगारादि ९ प्रकार के) और अलौकिक (जिसके ३ भेद हैं: स्वाप्निक, मानोरथिक और औपायनिक)। शृंगार के संयोग-वियोग के अतिरिक्त प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो भेद और किये गये हैं। केशव, देव के पहले, अपनी 'रसिकप्रिया' में प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो भेद बता गये थे। देव ने संयोग के अन्तर्गत हावों का तथा वियोग के अन्तर्गत १० कामदशाओं के साथ-साथ मान का भी वर्णन किया है। चौथे विलास में शृंगार के आलम्बन रूप नायक-नायिकादि का ही वर्णन है जो परम्परागत ढंग का ही है। इसमें विविध जातियों और देशों की नायिकाओं का कथन नहीं हुआ है। पाँचवें विलास में अलंकारों का विवेचन है। देव के मत में ३९ अलंकार, जिनका उन्होंने वर्णन किया है प्रधान हैं; शेष अलंकार जो औरों द्वारा वर्णित हुए हैं वे इन्हीं के अवान्तर भेद हैं। देव का अलंकार-निरूपण अपूर्ण और अपुष्ट है क्योंकि उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण अलंकारों को छोड़ दिया गया है तथा कइयों के प्रभेदों की कोई चर्चा नहीं की गई है। रसवत, ऊर्जस्वल, प्रेम या प्रेयस तथा आशिष-जैसे नगण्य अलंकारों को भी ३९ के अन्तर्गत सर्वथा अनावश्यक महत्त्व दे दिया गया है। एक तो यह कवि का बाल-प्रयत्न है, दूसरे इसमें

अलंकार की अपेक्षा रस और नायिका-भेद पर कवि की दृष्टि विशेष है। रस और नायिका-भेद की सारी विवेचना का आधार भानुदत्त की रसतरंगिणी ही है, यह कहा जा चुका है। साथ-ही-साथ केशवदास का भी थोड़ा प्रभाव देव पर मानना पड़ेगा। 'भाव-विलास' में विवेचन और निरूपण का कार्य स्पष्ट है। कुछ स्थलों पर वह सदोष भले ही हो तथा लक्षणों को चरितार्थ करने वाले जो उदाहरण हैं वे विशेष रूप से सरस और मधुर हैं।

अष्टयाम (लगभग सं० १७४६)—नायिका-भेद से ही सम्बन्धित विषय है जिसमें तरुण और बिलासी नायक-नायिकाओं के आठों पहर के विविध भोग-विलासों का ही वर्णन हुआ है। यह एक संक्षिप्त एवं साधारण कोटि की रचना है।

भवानी-विलास (सं० १७५०-१७५५ के बीच)—यह ग्रन्थ दादरी-नरेश सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य को समर्पित किया गया है। यह रस और नायिका-भेद-विवेचन का ग्रन्थ है जिसमें रस की अपेक्षा नायिका-भेद का विवेचन बहुत अधिक विस्तार से किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रथम विलास में शृंगार रस की प्रधानता का प्रतिपादन करते हुए उसका सम्यक् निरूपण किया गया है। देव के अनुसार शृंगार मूल रस है; बीर, शान्त आदि अन्य रस इसी मूल रस शृंगार से उत्पन्न होते हैं—

भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल शृंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै, बीर सान्त संचार॥

उनका दूसरा उल्लेखनीय कथन है कि रसोत्पत्ति के कारण रूप भावों की संख्या ६ है—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, संचारी भाव तथा हाव। देव के शृंगार-निरूपण में तीसरी विशेषता यह है कि वे संचारीभाव दो प्रकार के मानते हैं; एक कायिक जिसके अन्तर्गत ८ सात्त्विक भाव (स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु या कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय) आते हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध शरीर से है; दूसरे मानसिक जिनका संबंध मन से है (इनकी संख्या ३३ प्रसिद्ध ही है)। शृंगार रस के पहले वियोग और संयोग नामक दो भेद बतलाते हैं फिर उनके प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो-दो भेद और कहते हैं। शृंगार के अन्तर्गत संयोग और वियोग की स्थितियाँ प्रचलित रूप में स्वीकार न करके देव उन्हें किंचित् मनोवैज्ञानिक आधार पर निरूपित करते हैं। उनके अनुसार संयोग-वियोग का क्रम इस प्रकार होना है—पूर्वानुराग, वियोग (और उसकी दस अवस्थाएँ), संयोग, मान, प्रवास और अन्त में संयोग। इस प्रकार अपने शृंगार-निरूपण में कुछ नवीनता लाने की चेष्टा देव में लक्षित होती है। ग्रन्थ के दूसरे विलास से लेकर सातवें विलास तक नायिका-भेद वर्णित हुआ है। नायिका के नाना भेदों का कथन करते हुए देव ने स्वकीया की महत्ता स्वीकार की है। स्वकीया ही

उत्तम नायिका के आठों गुणों—भूषण, यौवन, रूप, गुण, शील, विभव, कुल और प्रेम से समन्वित अष्टांगवती होती है। देव ने स्वकीया, परकीया और सामान्या (गणिका) का अलग-अलग प्रयोजन बताया है। पहली सुख-सन्तान के लिए, दूसरी प्रेम के लिए और तीसरी उत्सव आदि के लिए—

सुकिया सुख सन्तान हित, प्रेमदरस पर नारि।
सामान्या उत्सव समय, मंगल रूप निहारि॥

परकीया-प्रेम में उन्होंने सुख की अपेक्षा दुख ही विशेष कहा है। सातवें विलास के अन्त में संक्षेप में नायक-भेद कहा गया है। आठवें विलास में शृंगारेतर रसों का वर्णन हुआ है। शृंगार के बाद ये वीर और शान्त रसों को अधिक महत्त्व देते हैं। वे वीर तीन प्रकार के मानते हैं : युद्ध-वीर, दान-वीर और दया-वीर। शांत के दो भेद बताये गये : शरण्य शान्त और शुद्ध शान्त; बाद में शरण्य के ३ प्रकार भी कथित हुए हैं—प्रेम भक्ति, शुद्ध भक्ति और शुद्ध प्रेम। हास्य के ३ भेद (उत्तम, मध्यम और अधम) तथा करुण के ५ भेद (करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण) किये गये हैं। जैसा हम कह चुके हैं शृंगार के बाद वीर और शान्त ही देव की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण रस हैं। हास्य और भयानक रस शृंगार में, रौद्र और करुण वीर में तथा अद्भुत और बीभत्स रस शान्त में लीन हो जाते हैं। अन्त में शान्त और वीर शृंगार में लय हो जाते हैं। फलतः प्रधान रस शृंगार ही हुआ। इस प्रकार देव का रस-विवेचन कुछ अधिक मौलिकता और गम्भीरतापूर्ण है। भवानी-विलास में रचयिता का काव्यपक्ष कुछ अधिक गम्भीर हो गया है।

प्रेमतरंग (सं० १७६० के आस-पास)—यह ग्रन्थ किसी आश्रयदाता को समर्पित नहीं है। भवानीविलास और कुशलविलास की बहुत-सी बातें इसमें ज्यों-की-त्यों आ गई हैं, बहुत-से लक्षण हू-ब-हू भवानीविलास से ही उतार दिये गये हैं, औदाहरणिक भाग सर्वथा नवीन है और इसमें देवकवि का विलास-शील कवि-रूप अपने समुन्नत रूप में देखा जा सकता है। इस ग्रन्थ में स्वकीया के पति-प्रेम का अत्यन्त विशद वर्णन किया गया है।

कुशलविलास (लगभग सं० १७६५)—फफूंद के शुभकर्ण नामक सेंगर क्षत्रिय राजा के पुत्र राजा कुशलसिंह के लिए रस और नायिकाभेद-सम्बन्धी यह ग्रन्थ लिखा गया था। इसमें प्रेमतरंग के ३ तरंगों की सारी सामग्री प्रथम ५ विलासों में लगभग ज्यों-की-त्यों रख दी गई है क्योंकि जीवन की आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए आश्रयदाता की खोज थी और उसके उपयुक्त काव्य-सामग्री तैयार भी थी। ग्रन्थ के प्रथम विलास में शृंगार रस तथा उसके अवयवों (विभाव, अनुभाव, तन-संचारी, मन-संचारी आदि) का वर्णन किया है; शेष ८ विलासों में नायिका-भेद विषय का ही प्रसार है। ग्रन्थ में १९ दोहे

तथा १८७ छंद (कवित्त और सवैये) मिलते हैं। इसमें प्रीति-निरूपण-संबंधी एकाध अनुभूति-ईरित मार्मिक उक्ति देखिये—

पति की चौविधि रसिकता, तिहूँ वैस बढ़ि जात।
प्रीति प्रौढ़ स्वकियान त्यौं पति सुत हित घटि जात॥

जातिविलास (सं० १७८० के लगभग)—इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कहा जाता है। कि यह देश की लम्बी-चौड़ी यात्रा के परिणामस्वरूप तैयार हुआ ग्रन्थ है। तात्पर्य यह है कि देशाटन करते हुए, स्थान-स्थान पर भ्रमण करते हुए कवि ने भले ही इसके छंद लिखे हों परन्तु इस ग्रन्थ का संकलन-सम्पादन यात्रा-काल की समाप्ति पर ही हुआ होगा। यात्रा-काल पर्याप्त दीर्घ रहा होगा, लगभग १०-१५ वर्ष, क्योंकि इसमें दूरस्थ भू-भागों की नायिकाओं का वर्णन किया गया है। इसमें जाति-व्यवसाय, निवास-स्थान आदि के आधार पर नायिका-भेद वर्णित हुआ है।

रस-विलास (सं० १७८३)—यह ग्रन्थ रस और उससे भी अधिक नायिका-भेद का ग्रन्थ है जो भोगीलाल नामक देव के सम्भवत: श्रेष्ठतम आश्रयदाता के लिए लिखा गया था और उन्हीं को समर्पित भी किया गया था। १३४ दोहों तथा २१६ कवित्त-सवैयों में यह ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ है। रस का वर्णन तो नाम-मात्र को है, नायिका-भेद का ही इसमें समूचा विस्तार समाया हुआ है। भवानीविलास और जातिविलास की बहुत-सी सामग्री इसमें समाविष्ट है। रस और नायिकाभेद विषय पर देवकवि ने सम्भवत: सबसे अधिक मौलिकता प्रदर्शित की है। इस ग्रन्थ में नायिका के सर्वथा नये और परम्परा-भुक्त भेद-प्रभेद किये गये हैं; उदाहरणार्थ नागरी, पुरवासिनी, ग्रामीणा, बन-वासिनी, सैन्या और पथिक-वधू। इसके बाद इनके भी उपभेद बताये गये हैं। व्यवसाय और निवास-स्थान पर आधारित नायिकाओं के भेदों का कथन देव की अपनी विशेषता है। रूप-शील-यौवन आदि से सम्पन्न अष्टांगवती नायिका वर्णन किया गया है तथा जाति, कर्म, गुण (सत-रज आदि), देश, काल, वय, प्रकृति (आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार) और सत्त्व के आधार पर नायिका के भेद-प्रभेदों का विशद वर्णन हुआ है। संयोग-स्थिति में उसके हावों और वियोग के अन्तर्गत उसकी दस काम-दशाओं का भी कथन है तथा उन काम-दशाओं में प्रत्येक के कई-कई उपभेद भी बताये गये हैं जो देव की नवीनतानुधाविनी सूझ-बूझ के द्योतक हैं। नायिका के सूक्ष्म अथवा अमूर्त गुणों का देव ने पर्याप्त सुन्दर वर्णन किया है। देव के नायिकाभेद की नवीनता संक्षेप में निम्नलिखित विवरण से जानी जा सकती है—

जाति कर्म कुल देस अरु, काल वयक्रम जानि।
प्रकृति सत्य है नायिका, आठों भेद बखानि॥

जातिगत भेद—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी।

कर्मगत भेद—स्वकीया, परकीया, सामान्या।

गुण-भेद—उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

देशगत भेद—मध्य देश, मागध वधू, कौशल वधू, पाटल वधू, उत्कल, कलिंग, कामरूप, बंगाल तथा अन्य प्रदेशों की स्त्रियाँ।

वय-क्रम भेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा।

प्रकृति-भेद—वातगुणी, पित्तगुणी, कफगुणी।

सत्त्व भेद—देवसत्त्व, मानुषसत्त्व, गन्धर्वसत्त्व, यक्षसत्त्व, पिशाचसत्त्व इत्यादि। देव ने नागरी और ग्राम्या नायिकाओं का वर्णन इस प्रकार किया है—राजपुर-नागरी, पूजनहारी, द्वारपालिका, रावल-नागरी, धाय, दूती, दासी, दरजिन, जौहरी, पटविन, सुनारिन, गन्धिन, तेलिन आदि। इस ग्रन्थ में शृंगार से अतिरिक्त रसों की चर्चा नहीं है। रीति-निरूपण के साथ-साथ कवि-कर्म में भी विकास ही लक्षित होता है तथा काव्य-गुण एक धीर-गम्भीर रूप लिये हुए है।

प्रेमचन्द्रिका (सं० १७६० के लगभग)—इस ग्रंथ में प्रेम-तत्त्व की ही विशद चर्चा है। इसमें काव्य-रीति और प्रेम-काव्य दोनों मिलता है। यह ग्रन्थ रीति-बन्धन और रीति से मुक्ति की आकांक्षा दोनों संग्रथित किये हुए है क्योंकि इसमें अंशतः रीति-निरूपण है और अंशतः प्रेम-व्यंजना जो सर्वथा रीति-निरपेक्ष है। इसमें ५६ दोहे हैं तथा १७१ कवित्त-सवैये। ग्रन्थ चार प्रकाशों में विभक्त है—प्रथम प्रकाश में साधारण प्रेम का वर्णन है जिसमें प्रेम-रस, प्रेम-स्वरूप, प्रेम-माहात्म्य तथा प्रेम और वैषयिकता का भेद वर्णित हुआ है। दूसरे और तीसरे प्रकाश में प्रेम के पाँच भेदों में से प्रथम भेद, सानुरागशृंगार का विशद वर्णन किया गया है जिसके अन्तर्गत मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया आदि के प्रेम का अत्यन्त सरस चित्रण किया गया है। चौथे प्रकाश में प्रेम के अन्य चार भेदों—सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य—का वर्णन किया गया है तथा उदाहरण-रूप में क्रमशः गोपियों के सौहार्द, गोपियों की भक्ति, यशोदा के वात्सल्य और राजा नृग के कार्पण्य को सामने रखा गया है। सरस काव्य-रचना और उत्कृष्ट एवं तन्मयकारिणी भाव-व्यंजना की दृष्टि से देव का यह ग्रन्थ रस-विलास से भी उत्कृष्ट बन पड़ा है। इन उत्तरवर्ती कृतियों में देव की प्रौढ़तम काव्य-सर्जना का स्वरूप देखा जा सकता है।

सुजानविनोद या रसानन्दलहरी (सं० १७६५ के लगभग)—यह ग्रंथ दिल्ली-निवासी पातीराम कायस्थ नामक रईस के सुपुत्र सुजानमणि को प्रसन्न करने के लिए लिखा गया था। इस ग्रन्थ का अधिकांश भवानीविलास, रस विलास और प्रेमचन्द्रिका से संकलित हुआ है। इस ग्रन्थ में ऋतु-क्रम से विविध नायिकाओं के आमोद-प्रमोद, रसकेलि आदि का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ

में ८६ दोहे और २३८ छन्द हैं तथा वह ७ विलासों में विभक्त है। अन्तिम दो विलास जो ऋतु-वर्णन से संबंधित हैं उन्हीं में कवि की मौलिकता लक्षित होती है। प्रेमचन्द्रिका के ही सामान यह ग्रन्थ भी शुद्ध काव्य की दृष्टि से अत्युत्कृष्ट है तथा कवि की गम्भीर भाव-व्यंजना के साथ-साथ कला-कौशल की परिपूर्णता का भी सूचक है। इस ग्रन्थ में षटऋतु-वर्णन को प्रधानता दी गई है।

रागरत्नाकर—यह संगीतशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ है जो दो अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में ६ रागों तथा उनकी भार्याओं का सविस्तर वर्णन है तथा द्वितीय अध्याय में १३ उपरागों का साधारण कथन मिलता है। विभिन्न रागों का वर्णन करते हुए कवि ने रागों के स्वरूप, गायन के समय, सहायक वाद्यों, उनके वाहन, भूषण तथा स्वर, लक्षण आदि का जो कथन किया है उससे देवकवि की बहुज्ञता तथा विस्मयकारी संगीतशास्त्र-निष्णात होने का पता चलता है। राग-भार्याओं का वर्णन भी पर्याप्त आकर्षक है।

शब्दरसायन—(स० १८०० के लगभग) यह देव का प्रौढ़तम रीति-ग्रन्थ है जिसमें काव्य के समस्त अंगों—काव्य-महिमा काव्य-स्वरूप, पदार्थ-निर्णय, समस्त रसों, रीति, वृत्ति, अलंकार, पिंगल आदि का निर्वचन हुआ है। इस ग्रन्थ में एकादश प्रकाश हैं। काव्य को देवकवि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्म मानते हैं जिससे मनुष्य अमर हो जाता है—

रहत न घर बर, धाम, धन, तरुवर, सरवर, कूप।
जस शरीर जग में अमर, भव्य काव्य रस-रूप॥

काव्य के महत्त्व और स्वरूप-निर्देश के बाद कवि ने शब्द-शक्तियों का विशद विवेचन किया है। इस शब्द-शक्ति-विवेचन में कहीं भी देव ने अभिधात्मक काव्य को उत्तम काव्य नहीं कहा है। उनके अधोलिखित दोहे :

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षना लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन॥

को लेकर लोगों ने भूल से यह समझ लिया कि देवकवि व्यंजना-शक्ति के विरोधी थे। वास्तव में व्यंजना को अधम कहकर उन्होंने व्यंजना शब्द-शक्ति का नहीं वरन् 'परकीया' नायिका का प्रकारान्तर से तिरस्कार किया है। शब्द-रसायन के षष्ठ प्रकाश में नायिकाओं के स्वभाव-भेदादि की चर्चा के सन्दर्भ में उक्त दोहा आया है परन्तु इसे भ्रमवश शब्दशक्ति-संबंधी कथन मानकर लोगों ने इसके आधार पर यह भावना बना ली थी कि देव व्यंजना के महत्त्व से अनभिज्ञ थे। भला देव-ऐसे सहृदय कवि और अनुभवी आचार्य व्यंजना को अधम काव्य कैसे कह सकते थे? उनके 'अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन' को ही अभिधा द्वारा नहीं वरन् व्यंजना द्वारा समझने की जरूरत थी। अब तो देव की व्यंजना-सम्बन्धी धारणा पर विवेचकों ने काफी प्रकाश

डाल दिया है और भ्रम की गुंजाइश नहीं रह गई है।[1] तीसरे प्रकाश में रस का विशद वर्णन है जो भावविलास और रसविलास की ही पुनरावृत्ति है। कुछ अनावश्यक विस्तार हटा दिये गये हैं तथा रस-विवेचन में कुछ नई बातें जोड़ भी दी गई हैं जैसे रसों की मित्रता और शत्रुता रसों के सरस रस, उदास रस और नीरस रस ऐसे भेद हैं, तथा उनके भी प्रभेद एवं रसों के स्वमुख-विमुख, स्वनिष्ठ-परनिष्ठ रूपों का भी विवेचन हुआ है। रसों का विवेचन पूर्ण है परन्तु उसी के पश्चात् कैशिकी, भारती, सात्वती और आरभटी नामक वृत्तियों का वर्णन इतना पूर्ण नहीं बन पड़ा है। इसके बाद नायिकाओं का संक्षिप्त कथन और द्वादश रीतियों का वर्णन है—अर्थ, श्लेष, प्रसाद, सम, मधुर भाव, सुकुमार, अर्थव्यक्ति, समाधि, कान्ति, ओज और उदार तथा इनमें से प्रत्येक के नागर और ग्रामीण नामक दो-दो उपभेद। इसके पश्चात यमक और अनुप्रास पर आधारित चित्रालंकार का, तत्पश्चात् ४० मुख्य एवं ३० गौण अलंकारों का निरूपण हुआ है तथा उपमा का प्राधान्य स्वीकार किया गया है। अन्तिम दो अध्यायों में पिंगलशास्त्र का स्वच्छ निरूपण है। समग्र रूप से कहना पड़ेगा कि 'शब्दरसायन' देव की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रीतिशास्त्रीय कृति है जिसमें काव्य के समस्त अंगों का पर्याप्त स्वच्छ सरस और उपयोगी विवेचन है। व्यवस्थित निरूपण, सरस उदाहरण तथा भेद-प्रभेद की नवीनता ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर देव सरस कवि और रीति के समर्थ आचार्य, दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं।

सुख-सागर-तरंग (सं० १८२४)—यह ग्रन्थ पिहानी के अकबर अली खाँ को समर्पित है। यह एक प्रकार से संग्रह-ग्रन्थ है जिसमें देव की पूर्ववर्तिनी रचनाओं से छन्द ले-ले कर वर्ण्यक्रम से सँजो दिये गये हैं। यह एक विशाल ग्रन्थ है जिसके १२ अध्यायों में कुल ८५६ छन्द हैं। देव के काव्य के सर्वोत्कृष्ट अंश को विशेषतः उस अंश को जो स्वयं देवकवि की ही दृष्टि से श्रेष्ठतम है, यदि हम देखना चाहते हैं तो 'सुख-सागर-तरंग' देख लेना पर्याप्त होगा। इस ग्रन्थ का मूल वर्ण्य उनकी अधिकांश अन्य रचनाओं के ही समान शृङ्गार तथा नायिका-भेद है। जीवन की विषम आर्थिक स्थिति ने ही कवि को ९४ वर्ष की अवस्था में किसी आश्रयदाता के यहाँ एक ग्रन्थ तैयार कर उपस्थित होने के लिए बाध्य किया होगा। देव के जीवन का यह पहलू अत्यन्त कारुणिक है, जीवन के अन्तकाल तक उन्हें राज्याश्रय के लिए भटकना पड़ा था। ग्रन्थ के आरम्भ में आश्रयदाता का परिचय, तत्पश्चात् सरस्वती, महालक्ष्मी,

---

१. देखिए 'देव और उनकी कविता' : डॉ० नगेन्द्र (सन् १९४९), पृ० ५९, और 'शृंगार-काल' : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (सं० २०१७), पृ०४९७-५००।

गौरी, जानकी, रुक्मिणी और राधिका की वन्दना है। इसके बाद शृङ्गार के स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी अनेक मांगलिक उत्सवों का वर्णन है फिर इसके अवयवों, षट्ऋतु, अष्टयाम, नख-शिख तथा व्यवसाय-भेद से नायिकाओं का वर्णन है। अनन्तर नायिका-भेद का ही प्रसंग ग्रन्थान्त तक असाधारण विस्तार के साथ चला चलता है।

इस प्रकार देव के रीतिशास्त्रीय ग्रन्थों की ही संख्या बहुत बड़ी है जिसमें बार-बार विस्तार के साथ प्रमुख रूप से नायिका-भेद और शृङ्गार रस का ही विवेचन हुआ है। इस विवेचन में जहाँ-तहाँ नवीनता और सूझ-बूझ भी देव कवि ने दिखाई है जिससे उनके शास्त्रज्ञान और प्रगाढ़ एवं व्यापक अनुभवों का भी पता चलता है; परन्तु संस्कृत के काव्यशास्त्रियों वाली शास्त्र-बुद्धि और काव्यशास्त्र-निष्णातता देव में नहीं मिलती। देव कर्त्ता या कवि के रूप में ही अधिक सफल और महत्त्वपूर्ण कहे जायेंगे, शास्त्राचार्य के रूप में नहीं। उस जमाने में रीति का बन्धन कुछ ऐसा था कि उसमें बंधे बिना सम्भवत: कविकर्म पूर्ण नहीं होता था पर उसी रूढ़ि की जकड़न में देव भी आ गए अन्यथा कवित्व का वे और भी उपकार कर गए होते। फिर भी सरस छन्दों की बड़ी भारी राशि वे हमें दे गए हैं। उनका रीतिकर्म भी सामान्यत: अच्छा है तथा नवीनता, सूझ-बूझ और मौलिकता की दृष्टि से उनका स्थान हिन्दी के अन्य रीतिशास्त्रियों के बीच अधिक महत्त्वपूर्ण कहा जायगा। काव्य के समस्त अंगों के विवेचन में प्रवृत्त होने वाले आचार्यों में उनकी गणना है।[1] शब्दशक्ति, रीति, वृत्ति, अलंकार, पिंगल, रस, नायिकाभेद आदि सभी पर उन्होंने लिखा तथा नख-शिख, अष्टयाम, षट्ऋतु आदि काव्य-रूढ़ियों का भी अनुधावन किया। इन सारी बातों से स्पष्ट है कि देव रीतिबन्धन से बेतरह बँधे हुए कवि थे, जहाँ उससे मुक्त होने का उन्होंने प्रयास किया है, उनकी कविता में और ही रंगत आ गयी है। उनकी रीति-निरपेक्ष रचनाएँ इसका प्रमाण हैं।

---

१. देव के रीति-विवेचन के अध्ययन के लिए देखिये डा० नगेन्द्र-कृत 'देव और उनकी कविता', 'हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास' (षष्ठ भाग) तथा डा० ओमप्रकाश का 'हिन्दी अलंकार-साहित्य'।

५

शृंगार-काव्य

रीतियुगीन कवियों का मूल भाव-लोक शृंगार रहा है. इसी से इस युग को शृंगार काव्य कहना अधिक उपयुक्त है। देव कवि के द्वारा भी शृंगार-धारा की विशेष पुष्टि हुई, इसमें संदेह नहीं। उनके काव्य के आलंबन भी परंपरागत काव्य के नायक-नायिका, कृष्ण, गोपियाँ, आभीर स्त्रियाँ आदि ही रहे हैं।

रूप-चित्रण—कृष्ण के रूप-चित्रण में देव का वह चित्र ही सर्वप्रथम सामने आता है जिसमें श्रीकृष्ण को 'व्रज दूलह' कह कर चित्रित किया गया है—

पायनि नूपुर मंजु बजैं कटि किंकिन के धुन की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत हिये हुलसै बनमाल सुहाई।।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल मंद हँसी मुख चन्द जुन्हाई।
जै जग मंदिर दीपक सुन्दर श्री व्रजदूलह देव सहाई।।

अन्य अधिकांश छंद कृष्ण के सौंदर्य का प्रभाव बतलाने वाले ही हैं, रूप-चित्रण करने वाले कम। यह प्रभाव रूप का है, गुणों का है। कृष्ण मुरली बजाते हैं तो गोपियाँ अपने मनोभावों को रोक नहीं पातीं, उनकी ओर दौड़ चलती हैं, यमुना-तट पर पहुँचती हैं तो श्रीकृष्ण के रूप-रस पर इस कदर मुग्ध हो जाती हैं कि उनकी इच्छा घर लौटने की नहीं होती, वे बार-बार अपने घड़े भरती हैं और खाली कर देती हैं और राधिका की तो विशेष करऐसी ही दशा है—

व्रषभानु कुमारि मुरारि की ओर बिलोचन कोरनि सों चितवै।
चलिवे को घरै न करै मन नैंक, घरै फिर फेरि भरै रितवै।।

कोई-कोई गोपिका तो उनकी छवि का आसव पीकर बेहोश और मतवाली हो जाती है, उन्हें ही जहाँ-तहाँ खोजती फिरती है और कहती है—

मद मुसक्याय लै समाय जी में ज्याय लै रे
प्याइ लै पियूष प्यासी अधर सुधा की हौं।
मेरे सुखदाई दै रे देवजू दिखाई नेकु,
ए रे ब्रज-भूप तेरे रूप-रस छाकी हौं।।

कोई उन्हें देखकर आत्म-विस्मृत हो जाती है। वह जिन फूलों को आँचल में भरकर ले जाती रहती है वे उसके आँचल से गिर पड़ते हैं और उसे इस सब की कोई सुध नहीं रहती। किसी की यह हालत हो जाती है कि श्रीकृष्ण को देखने के बाद दूसरे किसी रूप को देखती ही नहीं। एक वही रूप, एक वही छटा उसे नगर में, वन में सर्वत्र घूमती दिखाई देती है और उसकी आंखों की

जो दशा होती है उसका तो कहना ही क्या, वे तो रूप-तन्मय हो जाती हैं। रूप के आश्लेष से उसकी आँखें निकल ही नहीं पातीं—

देव न देखति हौं दुति दूसरी देखे हैं जा दिन तें व्रजभूप मैं।
पूरि रही री वही पुर कानन आनन ध्यानन ओप अनूप मैं।
ये अँखियाँ सखियाँ हैं हमारी सोजाइ मिलीं जलबूंद ज्यौं कूप मैं।
कोरि करौ नहिं पाइयै केहूँ समाइ गयीं व्रजराज के रूप मैं॥

और रूप-छवि की धारा में धँस कर तो वे मधुमयी हो जाती हैं—

धार में धाय धँसी निरधार ह्वै जाय फसीं उकसीं न अँधेरी।
री अँगराइ गिरीं गहिरी गहि फेरे फिरी न घिरी नहिं घेरी।
देव कछू अपनो बस ना रस लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

और अब देखिये, साँवरे लाल के श्यामल रूप को आँखों में काजल की तरह बसा लेने वाली प्रेमिका क्या कहती है—

देव मैं सीस बसायो सनेह सों भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यौ।
कंचुकी मैं चुपरयौ करि चोवा लगाय लियौ उर कै अभिलाख्यौ।
लै मखतूल गुहे गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ।
साँवरे लाल कौ साँवरौ रूप मैं नैननि कौ कजरा करि राख्यौ॥

इन प्रभावाभिव्यंजक रूपवर्णनात्मक छंदों को कोई चाहे तो प्रेमाभिव्यंजक भी कह सकता है किन्तु ये अभिव्यक्तियाँ रूप की चोट झेलने वाली गोपिकाओं की ही हैं। इन प्रेममय वचनों के पीछे रूप की ही प्रेरणा है।

राधा के रूप-वर्णन से सम्बन्धित उस छंद पर दृष्टि सबसे पहले जाती है जिसमें उनकी अमंद रूप-छटा और वर्णाभा का, उसकी अशेष उज्ज्वलता का वर्णन किया गया है—

फटिक सिलानि सों सुधार्‌यौ सुधा मंदिर,
उदधि दधि की सो अधिकाई उमगै अमंद।
बाहर ते भीतर लौं भीति न दिखैयै देव,
दूध को सो फेन फैलो आँगन फरसबंद।
तारा सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिल होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरंद।
आरसी से अंबर में आभा सी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब सो लगत चन्द॥

राधिका जिधर-जिधर जाती है सभी की दृष्टि उसी पर पड़ती है और जो भी उसे देखता है उसके रूप-गुण का गायक हो जाता है—'कुंजनि कलिनमयी गुंजनि अलिनमयी, गोकुल की गलिन नलिनमयी कै गई।' राधिका की रूप-

छटा और अंग-विभा का कहना ही क्या! तुलसीदास ने तो लिखा है कि 'मोह न नारि नारि के रूपा' किन्तु देव ने इस क्रम को उलट दिया है और नारी को भी नारी के रूप-सौन्दर्य पर बेतरह मुग्ध होते दिखाया है —

आई हुती अन्हवावन नाइनि सोंधे लिये कर सूधे सुभाइनि।
कंचुकी छोरि उतै उबटैबे को ईंगुर से अंग की सुखदाइनि।
'देव' स्वरूप की रासि निहारति पाँय ते सीस लौं सीस तैं पाँइनि।
ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी सी हँसै कर ठोढ़ी धरै ठकुराइनि॥

सामान्यत: नायिका के रूप का चित्रण तो कम पर उसके सौंदर्य, चपलता, अंगविभा आदि गुणों का वर्णन विशेष किया गया है। कहीं उसका दूल्हन-रूप दिखाया गया है जिसमें वह कान में तरौना, नाक में नथ, मुँह पर घूंघट, माथे पर तिलक या बिंदी, नथ में मोती और नेत्रों की चंचलता के साथ वर्णित हुई है। उस उन्नतयौवना की वेशभूषा, अंग-प्रत्यंग के आकर्षण आदि का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

जगमगे जोबन जराऊ तरिवन कान,
ओठन अनूठे रस हाँसी उमड़े परत।
कंचुकी में कसे आवैं उकसे उरोज
बिंदु बंदन लिलार बड़े वार घुमड़े परत।
गोरे मुख सेत सारी कंचन किनारीदार,
देव मनि झुमका झुमकि छुमड़े परत।
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोरी नथ,
बड़ी बरुनीन होड़ा होड़ी हुमड़े परत॥

नायिका का प्रताप, सुहाग, प्रभाव, गुण कवि को सब कुछ बड़ा ही बड़ा लगता है; उसका मुँह देखने की इच्छा बड़े-बड़े देव-अदेवों की स्त्रियों के मन में जगा करती है क्योंकि वह गुण और सौन्दर्य में विशाल है, असाधारण है—

बड़ी दिल दार, बड़े बड़े हार, बड़े बड़े बार, बड़ी बड़ी आँखें।

नायिका की कांति को ही ले लीजिये। उसकी सोन-जैसी गोराई नायक की पुतलियों की कसौटी पर कंचन-रेखा सी खिंच गई है, नायिका को देखे हुए पर्याप्त समय हो गया है फिर भी उसकी वर्णच्छटा आँखों में बस-सी गई है—

अब लगि आँखिनि की पूतरी कसौटिन मैं,
लागी रहै लीक बाकी सोने सी गुराई की।

बार-बार कवि ने उसके शरीर की छवि की तुलना सोने से की है, मुख की होड़ चन्द्रमा से, वस्त्रों की चाँदनी से आदि-आदि। नायिका के चरणों की ही आभा इतनी है कि उससे पृथ्वी पर रंग या लाली की धारा बहने लगती है—'भू पर अनूप रंग रूप बिथुर्यो परै' अथवा सदृश-उक्तियाँ प्रमाण हैं। नायिका की अंग-

जो दशा होती है उसका तो कहना ही क्या, वे तो रूप-तन्मय हो जाती हैं। रूप के आश्लेष से उसकी आँखें निकल ही नहीं पातीं—

देव न देखति हौं दुति दूसरी देखे हैं जा दिन तें ब्रजभूप मैं।
पूरि रही री वही धुर कानन आनन ध्यानन ओप अनूप मैं।
ये अँखियाँ सखियाँ हैं हमारी सोजाइ मिलीं जलबूँद ज्यौं कूप मैं।
कोरि करौ नहिं पाइयैं केहूँ समाइ गयीं ब्रजराज के रूप मैं॥

और रूप-छवि की धारा में धँस कर तो वे मधुमयी हो जाती हैं—

धार में धाय धँसी निरधार ह्वै जाय फसीं उकसीं न अँधेरी।
री अँगराइ गिरीं गहिरी गहि फेरे फिरी न घिरी नहिं घेरी।
देव कछू अपनो बस ना रस लालच लाल चितै भई चेरी।
वेगि ही बूड़ि गई पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी॥

और अब देखिये, साँवरे लाल के श्यामल रूप को आँखों में काजल की तरह बसा लेने वाली प्रेमिका क्या कहती है—

देव मैं सीस बसायो सनेह सों भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यौ।
कंचुकी मैं चुपरचौ करि चोवा लगाय लियौ उर कै अभिलाख्यौ।
लै मखतूल गुहे गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यौ॥

इन प्रभावाभिव्यंजक रूपवर्णनात्मक छंदों को कोई चाहे तो प्रेमाभिव्यंजक भी कह सकता है किन्तु ये अभिव्यक्तियाँ रूप की चोट झेलने वाली गोपिकाओं की ही हैं। इन प्रेममय वचनों के पीछे रूप की ही प्रेरणा है।

राधा के रूप-वर्णन से सम्बन्धित उस छंद पर दृष्टि सबसे पहले जाती है जिसमें उनकी अमंद रूप-छटा और वर्णाभा का, उसकी अशेष उज्ज्वलता का वर्णन किया गया है—

फटिक सिलानि सों सुधार्‌यौ सुधा मंदिर,
उदधि दधि की सो अधिकाई उमगै अमंद।
बाहर ते भीतर लौं भीति न दिखैयै देव,
दूध को सो फेन फैलो आँगन फरसबंद।
तारा सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिल होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरंद।
आरसी से अंबर मैं आभा सी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब सो लगत चन्द॥

राधिका जिधर-जिधर जाती है सभी की दृष्टि उसी पर पड़ती है और जो भी उसे देखता है उसके रूप-गुण का गायक हो जाता है—'कुंजनि कलिनमयी गुंजनि अलिनमयी, गोकुल की गलिन नलिनमयी कै गई।' राधिका की रूप-

छटा और अंग-विभा का कहना ही क्या ! तुलसीदास ने तो लिखा है कि 'मोह न नारि नारि के रूपा' किन्तु देव ने इस क्रम को उलट दिया है और नारी को भी नारी के रूप-सौन्दर्य पर बेतरह मुग्ध होते दिखाया है—

आई हुती अन्हवावन नाइनि सोंधे लिये कर सूधे सुभाइनि ।
कंचुकी छोरि उतै उवटैबे को ईंगुर से अंग की सुखदाइनि ।
'देव'स्वरूप की रासि निहारति पाँय ते सीस लौं सीस तैं पाँइनि ।
ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी सी हँसै कर ठोढ़ी धरै ठकुराइनि ।।

सामान्यत: नायिका के रूप का चित्रण तो कम पर उसके सौंदर्य, चपलता, अंगविभा आदि गुणों का वर्णन विशेष किया गया है । कहीं उसका दूल्हन-रूप दिखाया गया है जिसमें वह कान में तरौना, नाक में नथ, मुँह पर घूंघट, माथे पर तिलक या बिंदी, नथ में मोती और नेत्रों की चंचलता के साथ वर्णित हुई है । उस उन्नतयौवना की वेशभूषा, अंग-प्रत्यंग के आकर्षण आदि का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

जगमगे जोवन जराऊ तरिवन कान,
ओठन अनूठे रस हाँसी उमड़े परत ।
कंचुकी में कसे आवैं उकसे उरोज
विंदु वंदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत ।
गोरे मुख सेत सारी कंचन किनारीदार,
देव मनि झुमका झुमकि छुमड़े परत ।
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोरी नथ,
बड़ी वरुनीन होड़ा होड़ी हुमड़े परत ।।

नायिका का प्रताप, सुहाग, प्रभाव, गुण कवि को सब कुछ बड़ा ही बड़ा लगता है; उसका मुँह देखने की इच्छा बड़े-बड़े देव-अदेवों की स्त्रियों के मन में जगा करती है क्योंकि वह गुण और सौन्दर्य में विशाल है, असाधारण है—

बड़ी दिल दार, बड़े बड़े हार, बड़े बड़े बार, बड़ी बड़ी आँखैं ।

नायिका की कांति को ही ले लीजिये । उसकी सोन-जैसी गोराई नायक की पुतलियों की कसौटी पर कंचन-रेखा सी खिच गई है, नायिका को देखे हुए पर्याप्त समय हो गया है फिर भी उसकी वर्णच्छटा आँखों में बस-सी गई है—

अब लगि आँखिनि की पूतरी कसौटिन मैं,
लागी रहै लीक वाकी सोने सी गुराई की ।

बार-बार कवि ने उसके शरीर की छवि की तुलना सोने से की है, मुख की होड़ चन्द्रमा से, वस्त्रों की चाँदनी से आदि-आदि । नायिका के चरणों की ही आभा इतनी है कि उससे पृथ्वी पर रंग या लाली की धारा बहने लगती है—'भू पर अनूप रंग रूप विथुर्‌यो परै' अथवा सदृश-उक्तियाँ प्रमाण हैं । नायिका की अंग-

कांति, रूपाभा आदि का यह जीवन्त चित्र देखिये—

विद्रुम और बँधूक जपा गुललाला गुलाब की आभा लजावति।
देव जू कंज खिले टटके हटके भटके खटके गिरा गावति।
पाँव धरै अलि ठौर जहाँ तेहि ओर तें रंग की धार सी धावति।
मानो मंजीठ की माठ ढुरी एक ओर ते चाँदनी बोरति आवति॥

नायिका के अंगों में पद्मिनी-सी सुरभि का भी वर्णन किया गया है—उसके दुकूलों से फूलों की सुगंध और मुख से कमल का सा बास फूटता रहता है, हँसी से अमृत के बिन्दु टपकते जान पड़ते हैं। उसके अंगों से सुगन्धित पदार्थों की महक आती रहती है और निःश्वासों की सुरभि भी प्रमत्त करने वाली होती है। उसकी सुरभि से तो गिरि-वन की वायु भी सुवासित रहा करती है। इस भावना को कहीं-कहीं ऐसा कह कर कि नायिका का रंग-भवन तो उसकी सुगंध के कारण भौंरों की भीड़ से भरा रहता है, उपहासास्पद भी बना दिया है। उसके रूप और अंग-सौरभ आदि का वर्णन अपने श्रेष्ठतम रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है—

देव जो बाहिर ही विहरै तो समीर अमी रस बिंदु लै जैहै।
भीतर भौन बसै बसुधा ह्वै सुआ मुख सूँघि फनिंदु लै जैहै।
जैयै कहूँ इहिं राखि गुबिंद कै इन्दुमुखी लखि इन्दु लै जैहै।
राखिहौ जौ अरविंद हूँ मैं मकरन्द मिलै तौ मलिंदु लै जैहै॥

नायिका में अमृत है, सुगंध है और इतनी अधिक है कि श्रीकृष्ण की पटु दूती को भय है कि कहीं उसके रस-सौरभ को दैवी-अदैवी शक्तियाँ उससे छीन न लें, क्योंकि उसमें सभी को मोहित कर लेने की असीम शक्ति है। नायिका बोलती है तो जैसे अमृत निचोड़ कर रख देती है; वह जहाँ जाती है अपने यौवन और रूप के प्रभाव को फैलाती चलती है और लोगों की मति-गति हरण किये लेती है—

थोरे-थोरे जोवनं बिथोरे देत रूप रासि,
गोरे मुख भोरे हँसि जोरे लेत हित को।
तोरे लेति रति दुति, मोरे लेति मति गति,
जोरे लेति लोक लाज, चोरे लेति चित को॥

उसका सतत चांचल्य भी निरीक्षणीय है—

लोने मुख लचनि नचनि नैन-कोरन की,
उरति न और ठौर सुरति सराहिनै।
वाम कर बार हार अंचल सम्हारौ करै,
कैयो छन्द कंदुक उछारै कर दाहिनै॥

उसकी ऐश्वर्यभरी, मदभरी, सुकुमारता-भरी मंद-मंथर चाल का यह गत्यात्मक और जीवंत चित्रण देखिये ! लगता है जैसे किसी अत्यंत ऐश्वर्यमय लोक की अपूर्व सुन्दरी अपने सारे ऐश्वर्य के साथ चली जा रही हो—

> पीछे परवीनैं बीनैं संग की सहेली आगे,
> भार डर भूषन डगर डारैं छोरि-छोरि ।
> चौंकति चकोरनि त्यों, मोरैं मुख मोरनि त्यों,
> भौंरनि की ओर भीरु देखैं मुख मोरि-मोरि ।।
> एक कर आली-कर ऊपर ही धरैं,
> हरे-हरे पग धरैं देव चलैं चित चोरि-चोरि ।
> दूजे हाथ साथनि सुथनि सुनावति बचन,
> राजहंसनि चुगावति मुकुत-माल तोरि-तोरि ।।

किसी-किसी छद में कवि ने ऐसी अनुपम रूप-गुण-शीला मृगनैनी के अपरिमित सौंदर्य का रहस्य जानने की चेष्टा की है। रूपशालिनी घर-घर की चर्चा का विषय बनी हुई है तथा उसकी सुखद मुख-सुषमा को देख सौत की आँखें भी सुखी होती हैं। रूप-रसिक कवि नायिका की शोभा का वर्णन करते हुए और भी आगे बढ़ा है और उसके अंगों के सौंदर्य को कुछ अधिक प्रकट रूप में दिखाने की चेष्टा करता है। सद्यःस्नाता का वर्णन प्रमाण है—जब शशिमुखी संकोच के साथ सरोवर से निकलती है—

> पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई देव,
> श्रीफल-उरोज-आभा आभासै अधिक सी ।
> छूटी अलकनि छलकनि जलबूंदन की,
> बिना बैंदी बंदन बदन सोभा बिकसी ।।

ऐसी रूप-गुण-यौवना सब प्रकार से माधुर्यमयी है। उसका मन नवनीत-सा कोमल है, यौवन दूध-सा पवित्र या उज्ज्वल है, उसकी छवि के सामने चंद्रमा छाछ या निःसार-सा है और अमृत-सहित पृथ्वी रसहीन है, उसकी आँखों में असीम स्नेह राशिभूत है और वाणी उसके वियोग के संताप का शमन करने वाली है। फिर भला ऐसी रसीली नायिका मनमोहन को अच्छी क्यों न लगेगी ?

> माखन सो मन दूध सो जोबन, है दधि सों अधिको उर ईठी ।
> जा छबि आगे छपाकर छाँछि समेत सुधा बसुधा सब सीठी ।।
> नैनन-नेह चुवै कवि 'देव', बुझावत बैन वियोग अँगीठी ।
> ऐसी रसीली अहीरी अहै, कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी ।।

एक स्थान पर कवि ने सीता के सौंदर्य का भी वर्णन किया है। अनुराग के रंगों से सनी हुई अंग-अंग से रूप और आभा की लहरें उठाती हुई, सौभाग्यवती सीता को देखकर सबका हृदय शीतल हो जाता है तथा सभी अपनी-अपनी

अटारियों पर चढ़कर उन्हें उतावली से देखने लगती हैं और उन्हें देखने के लिए तो 'सखियान के आनन इंदुन तें अँखियान की वन्दनवार तनी ।'

ऋतु-वर्णन—आलंबन की किंचित् चर्चा हो चुकने पर उस प्राकृतिक प्रेरणा-भूमि की भी चर्चा आवश्यक है जो रति-भाव की उत्तेजक है। गीति-कवियों में प्रकृति और ऋतुओं का ग्रहण इसी रूप में हुआ है। ऋतु-वर्णन में वसन्त और वर्षा की ही चर्चा अधिक है। वसन्त-वर्णन में कवि ने या तो ऋतु-राज में व्याप्त उल्लास और विभव का वर्णन किया है या फिर ऋतु की विरहो-त्तेजकता का। वसन्त ऋतु की शोभा और श्री का वर्णन करने वाला देव कवि का यह छन्द प्रसिद्ध है—

डार द्रुम-पालन, बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झिंगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै केकी-कीर बतरावैं 'देव',
कोकिल हलावैं-हुलसावै कर तारी दै।
पूरित पराग सों उतारो करै राई नोन,
कंजकली नायिका लतान सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाव चटकारी दै॥

किन्तु विरहिणी लिए तो वसंत साक्षात् अन्तक के ही समान है, अनार की फूली डालों को देखकर, सघन रूप से विकसित आम्र-मंजरियों को देखकर, कचनारों को देखकर और पिकी की कूक सुनकर वियोगिनी के प्राणों पर जो कुछ बीतता है उसे तो उसके सिवा और कोई क्या जान सकता है ? कवि ने ऋतु-राज-जन्य व्यथा का आभास मात्र कराया है—

को बचिहै यह बैरी वसंत पै आवत जो बन आग लगावत।
बौरत ही करि डारत बौरी, भरे विष बैरी रसाल कहावत।
होत करेजन की किरचैं कवि देव जू कोकिल बैन सुनावत।
वीर की सौं बलबीर बिना उड़ि जायँगे प्रान अबीर उड़ावत॥

वसन्त ऋतु में ही आता है हिन्दू जीवन का परम उल्लासमय त्यौहार जिसे 'होली' कहते हैं, तरुण जन जिसमें उन्मत्त हो उठते हैं। गोपियाँ लाल और गुलाल दोनों के ही रंग में भीगने की अभिलाषा से भर उठती हैं—'लाल के रंग मैं भींजि रही, सो गुलाल के रंग मैं चाहति भींज्यौ।" होली में तरुणियों के अरमान मिटाये नहीं मिटते—

लोग लोगाइन होरी लगाई मिला-मिली-चाउ न भेंटत ही बन्यौ।
देव ज चंदन-चूर कपूर लिलारन लै-लै लपेटत ही बन्यौ।

वे यहीं औसर आये इहाँ समुहाय हियौ न समेटत ही बन्यौ।
कीनी अनाकिनि यों मुख मोरि पै जोरि भुजा भटू भेंटत ही बन्यौ॥

होली में तरह-तरह से नायक-नायिकाओं या कृष्ण और उनकी प्रेमिकाओं की प्रणय-क्रीड़ाएँ दिखायी गयी हैं—

लाल गुलाल सों लीन्हीं मुठी भरि बाल की भाल की ओर चलाई।
वा द्रिग मूँदि उतै चितई इन भेंटी इतै वृखभान की जाई॥

होली-वर्णन में ऐसी ही बातों का आधिक्य मिलेगा।

वर्षा के वर्णन में कवि ने घटाओं, हवा के झकोरों, हरियाई हुई वनस्पतियों, चातक-मयूर, झूला-हिंडोला आदि का वर्णन किया है। नायिका को सखियाँ इतने जोरों से हिंडोले पर झुलाती हैं और हवा का झोंका भी इतनी जोर से लगता है कि नायिका का देह दूनर हुआ जाता है, चंचल अंचल हवा में इधर-उधर उड़ता रहता है और उसकी इस छवि को देखकर श्रीकृष्ण भी आनन्द-दोल में दोलायित होने लगते हैं—

आली झुलावति झूकनि सों झुकि जाति कटी झननाति झकोरे।
झूलत है हियरा हरि को हिय माँह तिहारे हरा के हिंडोरे॥

राधा और कृष्ण के वर्षा-काल में हिंडोला झूलने का वर्णन पर्याप्त गत्यात्मक है और साथ-ही-साथ चित्रात्मक भी—

सहर-सहर सोधौं सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि के घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायौ 'देव'
छहर-छहर छोटी बूंदन छहरिया।
हहर-हहर हँसि-हँसि के हिंडोरे चढ़ी,
थहर-थहर तन कोमल थहरिया।
फहर-फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया॥

एक जगह वर्षा की छटा तथा घटाओं और विपिनस्थली की शोभा देखकर मुग्ध हुए कृष्ण के वनोपवन में विचरण करने का अत्यन्त सरस वर्णन आया है; इस वर्णन में वर्षा ऋतु का सौन्दर्य भी संक्षेप में, किन्तु अत्यन्त सुन्दर रूप से दिखलाया गया है—

सुनि कै धुनि चातक मोरन की चहुँ ओरन कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन में सखि रागनि राग अचूकनि सों।
कवि देव घटा उनई जु नई बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर के झूकनि सों॥

वर्षा के बाद शरद ऋतु का कवियों ने प्रायः वर्णन किया है जिसमें रस की चादरों का आकाश में ऊपर ही ऊपर उड़ना, पृथ्वी भर पर स्वच्छता का छा जाना, निर्मल चन्द्रमा का आकाश में उदित होना, सरोवरों में मरालों का क्रीडन, पुष्पों का प्रसन्न विकास, पौधों की उज्ज्वलता, दिशाओं का प्रकाशित रहना आदि वर्णित हुआ है तथा शुभ्र चाँदनी तो ऐसी लगती है जैसे आकाश के शुभ्र शिखर से गंगा सहस्र-धार होकर पृथ्वी पर फैल गई हो—

सरद-जोन्हाई-जन्हुजाई धार सहस,
सुधाई सोभा सिंधु नभ सुभ्र गिरवर ते।
उमड़ी परत जोति मंडल अखंड,
सुधा मंडल मही मैं विधु-मंडल बिवर ते ।।

प्रेम-वर्णन (संयोग)—देव ने जीवन में प्रेम का, इसी लौकिक प्रेम का, असाधारण महत्त्व बताया है। भौतिक जीवन में भी प्रेम करने से बड़ा सुख दूसरा नहीं। सभी सम्पदा हो, किन्तु दाम्पत्य जीवन के अभाव में वह व्यर्थ है, दाम्पत्य जीवन हो किन्तु प्रेम-प्रतीति न हो तो बेकार। प्रीति के लिए तरुण युगल हों और उनकी अमृतमय वाणी हो। इसी प्रकार काव्य में भी श्रेष्ठतम आनन्द शृंगार रस की कविता से ही मिलता है। ये सब बातें देव ने इस सवैये में बड़ी सुन्दरता से कही हैं—

'देव' सबै सुखदायक संपति, संपति को सुख दंपति जोरी।
दंपति दीपत प्रेम-प्रतीति. प्रतीति की रीति सनेह-निचोरी।
प्रीति तहाँ गुन रीति बिचार, बिचार की बानी सुधा रस बोरी।
बानी को सार बखान्यौ सिंगार, सिंगार को सार किसोर-किसोरी ।।

इसी प्रकार देव उसी स्त्री को सच्ची स्त्री ठहराते हैं जिसकी आँखों पर प्रगाढ़ पति-प्रेम का परदा पड़ा हो, हृदय में पातिव्रत धर्म का सजग पहरुआ बठा हुआ हो, जिसने कीर्ति की चादर ओढ़ रखी हो तथा जिसका हृदय इधर-उधर न भटकता हो चाहे पति कायर, क्रूर, कलंकी, कोढ़ी कुछ भी हो, कुल-लाज और आँखों की लाज जिसने बना रक्खी हो—

तेई बधू जिनके दृग द्वार परी परदा प्रिय-प्रेम की पोढ़ी।
'देव' पतिव्रत पौरिया कै उर कीरति की सिर चादर ओढ़ी।
अंतर अन्त रमै भरमै नहिं कायर कूर कलंकी कि कोढ़ी।
ना खिन डोलि सकै कुल लाज से आँखिन में दिढ़ लाज की ड्योढ़ी ।।

यहाँ पर सिर्फ इतना ही कहने की आवश्यकता रह जाती है कि बहु-स्त्री-अनुरक्त नायकों का तो इन कवियों ने डटकर वर्णन किया है और पुरुष के एकपत्नीव्रती होने पर कोई बल नहीं दिया है, पर स्त्री को धर्म, कुल, लोक, लाज आदि का बड़ा भारी पाठ पढ़ाया है। अच्छा होता यदि सच्चरित्रता की एक ही कसौटी

स्त्री और पुरुष दोनों ही के लिए बनायी गयी होती । एक जगह देव ने कहा है कि लाखों भाँति मैं अपने अन्तःकरण को टटोलता हूँ तो देखता हूँ कि उसमें एक ही अभिलाषा विद्यमान है और वह यह कि यह मन जिसके प्रति अनुरक्त हो उसके प्रति सर्वतोभावेन अनुरक्त हो, दूसरे की इच्छा का लेश भी मन में न रहे और वह प्रेम कभी छीजे नहीं, लाख-लाख विपदाओं को झेलकर भी अटल रहे, प्रेम में अभिमान न आवे और प्रेम के घर में हम अच्छी तरह गड़कर पहुँच जायँ । प्रेम-सम्बन्धी इस आदर्श के विषय में मतभेद की गुन्जाइश नहीं—

पाँचन के आगे आँच लागे ते न लौट जाय,
साँच देइ प्यारे की सती लौं बैठि सर मैं ।
प्रेम सों कहत कोऊ ठाकुर न ऐंठौ सुनि,
बैठौ गड़ि गहिरे तौ पैठौ प्रेम घर मैं ।।

प्रेम का वर्णन करते हुए पूर्वराग भी कवि ने दिखाया है । **'जब ही ते कुँवर कान्ह रावरी कला निधान कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी'** वाले कवित्त में केवल गुण-श्रवण से उत्पन्न असाधारण प्रीति का कथन हुआ है और नाना-विध अनुभाव-योजना द्वारा कृष्ण के हाथों उसकी बिकी हुई दशा का वर्णन किया गया है । पहले तो कृष्ण को कानों ने अपना बनाया, फिर आँखें और हृदय उन्हें अपना बनाने को आकुल हैं, लज्जा उधर अलग अवरोध पैदा करती है—ऐसी मनः-स्थिति का आगे चलकर कवि ने वर्णन किया है । फिर कभी अचानक भेंट भी होती है और सुजान श्याम के समक्ष पहुँचकर भी तरुणी से उनकी ओर देखते नहीं बनता । लोभ और लज्जा की खींच-तान में बेचारी संकटग्रस्त हो जाती है—**लालच लाज चितौत लग्यौ, ललचावत लोचन लाज लजौहैं** । प्रेम में दीवानी प्रेमिका कभी तो साँवरे लाल के साँवरे रूप का अपनी आँखों में अंजन लगाती है और कभी लाल की ओर देखकर उनके रूप की धारा में निराधार हो गिर पड़ती है और मधु में आसक्तिवश गिरकर जा फँसने वाली मधु की मक्खी-सी उसकी दशा हो जाती है । प्रिय का आकर्षण कुछ साधारण नहीं होता, प्रिय की मोहिनी छवि देखकर नायिका को अपनी सुध-बुध भूल जाती है । एक बार देखकर बार-बार उन्हें देखने की अभिलाषा जगती है, उनकी छवि का चषक पीकर बार-बार उसे पीने का अरमान लिये हुए गोपिका गोकुल में कहाँ-कहाँ उन्हें नहीं ढूंढ़ती और प्रिय से मिलन की अभिलाषा में भरकर इस प्रकार चीख उठती है—

मंद मुसक्याय लै समाय जी मैं ज्याय लै रे,
प्याइ लै पियूष प्यासी अधर सुधा की हौं ।
मेरे सुखदाई दै रे देव जू दिखाई नेकु,
ए रे ब्रजभूप तेरे रूप रस छाकी हौं ।।

यहाँ पर प्रिय-संसर्ग की तड़प व्यक्त हुई है। लेकिन यह संयोग जब तक भावना के स्तर पर रहता है तभी तक; जब वास्तव में संयोग का अवसर आता है तब लज्जा आ घेरती है। एक तरफ दर्शन और मिलन की ललक है, दूसरी तरफ लाज की दुर्निवार बाधा! कभी तो नायिका दरवाजे की आड़ से प्रिय को देखती है और कभी झरोखे से उन्हें जी भरकर देखने भी नहीं पाती। उनकी मधुर वाणी सुनते ही उसका हृदय अमृत की-सी शीतलता का अनुभव करता है लेकिन आँखों में जो लाज की घटा भरी हुई है वह उसे देखने भी नहीं देती—

मूरति जो मनमोहन की मन-मोहनी के थिर ह्वै थिरकी सी।
'देव' गुपाल के बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी।
नीके झरोखनि झाँकि सकै नहिं, नैनन लाज घटा घिरकी सी।
पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी सी॥

बहुत बड़ी बाधा के रूप में लज्जा आ खड़ी होती है, वह कहीं जा नहीं सकती, किसी को देख नहीं सकती। प्रिय एक नजर उसको देख क्या लेता है, चवाइयाँ (चुगलखोरिनें) गाँव में शोर मचा देती हैं। नायिका में यौवन क्या आ गया जैसे पाप पीछे लग गया हो; जिधर वह जाती है उधर ही उसे कलंक लगता है। उसके इस कथन में कितनी पीड़ा और मानसिक व्यथा भरी हुई है—

जोबन आयौ न पाप लग्यौ कबि देव रहैं गुरु लोग रिसौहैं।
जी में लजैयै जु जैयै कहूँ, तित पैयै कलंक चितैये जु सौहैं॥

इसीलिए वह लज्जा को ही सम्बोधित करती हुई कहती है कि हे लज्जा! तू मुझे मेरे प्राणप्रिय से मिलने नहीं देती। हे अकाजिन लज्जा! तुझे लज्जा भी नहीं आती!

प्रान से प्रानपती सों निरंतर अंतर अंतर पारत है री।
देखन दै हरि को भरि नैन घरी किन एक सरीकिन मेरी॥

लज्जा परिवार के लोगों की भी होती है, सिर्फ आँख की ही नहीं। एक बार क्या हुआ कि सखियों और गुरुजनों के बीच नायक ने नायिका का हँसी-हँसी में हाथ छू दिया, नायिका बेचारी नवोढ़ा ठहरी! उसने रो-रोकर सारा घर अपने सिर पर उठा लिया—

सखी के सकोच गुरु सोच मृग लोचन,
रिसानी पिय सों जु उन नेकु हँसि छुयो गात।
'देव' वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहि
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात।
को जानै री बीर बिनु बिरही बिरह-बिथा
हाय-हाय करि पछिताय न कछू सोहात।

बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो सो विलानो जात ।।

लज्जा आदि का चाहे जितना भी और चाहे जिस प्रकार वर्णन किया गया हो, प्रेम उस लाज की, कुल की या लोक की बाधा के कारण छीजता नहीं। परिवार के भरे-पूरे वातावरण के बीच भी उसका पालन होता है—सास को देखकर प्रेमिका अपनी हँसी छिपा लेती है, ननद को देखकर भय का अभिनय करती है, सौतों से ऐंठती है और जिठानी के प्रति आदर प्रदर्शित करती है; दासियों की उपेक्षा नहीं करती वरन् उनके प्रति सद्भाव रखती है और अपने प्रियतम से वह इस प्रकार अपना प्रेम बढ़ाती रहती है। धाय से वह विनय की बातें करना सीखती है और सखियों से सुहाग की रीति। कुल, लोक और लज्जा की परवाह आखिर वह कब तक करती रहेगी !

इतनी लगन और प्रीति की परिणति प्रिय-संयोग में क्यों न होती ? प्रियतम से मिलन होता है और संयोग की स्वच्छन्द क्रीड़ाएँ चलने लगती हैं—घर में भी, बाहर भी। संयोग के—आलिंगन के, स्पर्श के, सुरति के अनेकानेक चित्र देव ने अंकित किये हैं। अनेक बार तो श्लीलता और शालीनता की सीमा को लाँघकर भी—

आगे धरि अधर पयोधर सधर जानि,
जोरावर जघन सघन लरे लचि कै।
बार-बार देती बकसीसैं जेतवारनि कौं
बारनि को बाँधैं जे पिछारैं दुरे बचि कै।
उरुन दुकूल दै उरोजनि को फूल माल
ओठनि उठाये पान खाइ खाइ पचि कै।
'देव' कहै आजु मनौ जीत्यौ है अनंग रिपु,
पी के संग संगर सुरति-रंग रचि कै।।

एक बार रंगभवन में दीपक का प्रकाश मन्द करके सखी दूल्हे को कहीं छिपा देती है और नायिका को जबरन उस प्रकोष्ठ में पहुँचा देती है; इसके बाद का चित्र देव के ही शब्दों में—

अंक भरि लीन्ही गहि अंचल को छोरु देव
जोरु कै जनावै नवयोवन के जोम सो।
लाल के अधर बाल अधरनि लागि-लागि,
उठी मैन आगि पघिलान्यौ मन मोम सो।।

ऐसा ही एक चित्र वर्षा ऋतु में कुंज-मिलन का भी देखिये—

आजु गई हुती कुंजनि लौं बरसैं उत बूँद घने-घन घोरत।
देव कहै हरि भीजत देखि अचानक आइ गए चित चोरत।

पोटि भटू तट ओट कुटी कै लपेटि पटी सौं कटी पट छोरत।
चौगुनो रंग चढ़यौ चित मैं चुनरी कें चुचात लला के निचोरत ।।

छंद की अन्तिम पंक्ति में गूढ़ार्थ निहित है। रतिक्रीड़ा आदि के कितने ही चित्र देव ने मुक्त भाव से अंकित किये हैं। यह ध्यान रखने की बात है कि ये सारे चित्र किसी-न-किसी रसावयव, नायिका के भेदादि के उदाहरण रूप में ही प्रस्तुत हुए हैं। इस रीति-बद्धता से ही देव की समूची शृंगारी रचना बँधी मिलेगी। प्रणय-संसर्ग के लिए जो आकुल रहती है, वही कभी मानिनी बनने का भी संयोग प्राप्त करती है। सखियाँ उसे यह कहकर मनाती हैं और प्रिय-संयोग के लिए तत्पर करती हैं कि तुम्हारे बिना रंगभवन सूना लगता है, तू वहाँ चलकर अपनी सौत के मुख में कालिख पोत दे तथा 'पावस ते उठि कीजिए चैत, अमावस ते उठि कीजिये पूनो।' अभिसारिका के वर्णन में चाहे वह श्यामाभिसारिका हो चाहे शुक्लाभिसारिका, वही परंपरागत बातें बार-बार कही गई हैं। कृष्णाभिसारिका अर्धरात्रि में घर के और पड़ोस के लोगों को सोया जानकर धीरे से उठती है और छिप कर किवाड़ खोलती है और बाहर पग रखती है, उस समय का वर्णन देखिये—

सूझत न गात बाति आई अधरात,
अरु सोए सब गुरुजन जानि कै बगर के।
छिपि कै छबीली अभिसार को केवार खोले
खुलिगे खजाने चारु चन्दन अगर के।
देव कहै भौंर गुंजि आए कुंज कुंजनि तैं,
पूंछि-पूंछि पीछे परे पाहरु डगर के।
देवता कि दामिनी मसाल किधौं जोति जाल,
झगरे मचत जागे सिगरे नगर के।।

कृष्ण पक्ष की अभिसारिका तो प्रिय-मिलन के लिए अर्धरात्रि के सघन अन्धकार में बाहर निकलती है किन्तु उसकी सुरभि और अंगदीप्ति से भ्रमर-समूह जुट आते है, प्रकाश फैल जाता है, सारे सोने वाले जाग उठते हैं और शोर मच जाता है। उसका सौंदर्य उसके प्रिय-मिलन में अभिशाप-स्वरूप आ उपस्थित होता है। शुक्ल पक्ष में तो वह कुन्दनवर्णी चंद्र-चन्द्रिका की छवि और आभा को क्षीण कर देती है और जहाँ जाती है वहाँ के वातावरण को सुरभित बना देती है किन्तु यहाँ भी उसका प्रिय-संसर्ग निरापद नहीं रहने पाता क्योंकि उसके सुगंधित लेपों, अंग-वास और सुरभित निःश्वासों के कारण दूर-दूर के भ्रमर खिच-खिच कर रंगभवन में भर आते हैं—

सोंधे की सुबास अंग वास औ उसास बास,
आस पास बासि रही सुखद समीर सों।

कुंज तजि गुंजत गभीर गिरि तीर-तीर,
रह्यौ रंग भौन भरि भौंरन की भीर सों ।।

ऐसे वर्णन रीतिबद्ध और परंपरा-प्राप्त तो हैं ही, आज अस्वाभाविक और उपहासास्पद भी प्रतीत होते हैं । हाँ, ये एक युगविशेष की कल्पना-सरणि का सूचन अवश्य करते हैं । खंडिता, उत्कंठिता आदि के वर्णन भी इसी प्रकार हैं । खंडिता के रोष की अभिव्यक्ति देखिये—

गात ने गिरत फूल पलटे दुकूल,
अनुराग अनुकूल भाग जाके बड़ भाग के ।
अंजन अधर बीच नख-रेख लाल,
लालि जावक तिलक-भाल सघन सुहाग के ।
भौंहैं अलसौहैं पल सोहैं पगे पीक रस,
रँगमगे नैन रैनि जागे लगे लाग के ।
काहे को लजात जलजात से बदन, मोहि
महासुख देत आए देत पैंच पाग के ।।

पीक भरी पलकैं झलकैं, अलकैं जु गड़ी सु लसैं भुज खोज की ।
छाय रही छवि छैल की छाती मैं, छाप बनी कहूँ ओछे उरोज की ।
ताहि चितौंति बड़ी अँखियान ते, तो की चितौनि चली अति ओज की ।
बालम ओर बिलोकि के बाल, दई मनौ खौंचि सनाल सरोज की ।।

सहेट या संकेत-स्थल पर प्रियतम के न आने से दुखित नायिका उत्कंठिता कहलाती है । श्याम के काम-संदेशों को पाकर प्रेमिका सहेट-स्थल पर पहुँची तो किन्तु वहाँ श्याम न मिले; वह एक क्षण के लिए दुःख से स्तब्ध रह जाती है, ईषत् रोष भी जगता है और भीषण विषाद भी । पान की बीरी जो उसने दाँतों में थोड़ी दी ही थी, ज्यों-की-त्यों कुछ काल के लिए रखी रह जाती है—'देव कछू रद बीरी दबी सी, सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख ।' बहुत दिनों के बाद प्रिय परदेस से लौट रहा है, इस बात की बधाइयों सहित सूचना पाते ही नायिका की मनोदशा जैसी कुछ हो जाती है उसका अत्यंत उल्लासमय और सटीक चित्रण अधोलिखित छंद में किया गया है—

धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय आवन की,
सुनि कोरि-कोरि रस भामिनि भरति है ।
मोरि-मोरि बदन निहारती विहार भूमि,
घोरि-घोरि आनंद घरी सी उघरति है ।
देव कर जोरि-जोरि बंदि कै सुरन, गुरु
लोगन के लोरि लोरि पाँयन परति है ।

तोरि-तोरि माल पूरैं मोतिन की चौक,
निवछावर को छोरि-छोरि भूषन धरति है ।।

इस प्रकार देव की समूची शृंगारी कविता रीति की छाप लिये हुए है । उसमें नायक-नायिका, गोपी-कृष्ण, राधाकृष्ण आदि सभी का समावेश है । कहीं पर गोपी का, कृष्ण का, राधा का नामोल्लेख सहित समावेश है, कहीं पर बिना नामोल्लेख के ही । गोपीकृष्ण का जहाँ उल्लेख नहीं है वहाँ भी प्रेम-वर्णन का सारा वातावरण वही है—ब्रजभूमि का ही । साधारण नायक-नायिकाओं का शृंगार-वर्णन पढ़ते हुए भी यही प्रतीत होता रहता है जैसे यह गोपीकृष्ण के ही प्रणय-सम्बन्धों की चर्चा हो रही है तथा गोपीकृष्ण भी साधारण नायक-नायिका के स्तर पर ही प्रेम-व्यापार करते पाये जाते हैं । गोपीकृष्ण का प्रेम-वर्णन करते हुए गोरसदान, रास आदि के प्रसंगों का भी विवरण आया है । दधिदान का एक चित्र इस प्रकार है—

ग्वालि गई इक झाँकी वहाँ,
मग रोकी सु तौ मिसु कै दधि दान कौ ।
वा तौ भटू वह भेंटी भुजा भरि,
नातौ निकासि कछू पहिचान कौ ।
आई निछावर कै मन मानिक,
गौरस दै रस लै अधरान कौ ।
वाही दिना ते हिये में गड़ो,
वह ढीठ बड़ो री बड़ी अँखियान कौ ।।

रास-प्रसंग के वर्णन में कृष्ण की मुरलिका के नाद पर गोपियाँ किस प्रकार अपना सब-कुछ छोड़ कर 'चूल्हे चढ़े छाँड़े उफनात दूध भाँड़े उन, सुत छाँड़े अंक पति छाँड़े परजंक में' कृष्ण की ओर दौड़ती हैं; वन-पथ की निर्जनता, मार्ग की पंकिलता या कंटकाकीर्णता आदि का वे विचार भी नहीं करतीं; वे मृदु-चरण गोपियाँ शीघ्रता में वस्त्र उलटे ही पहने चल देती हैं, आभूषण कहीं-के-कहीं डालती हैं, इस प्रकार की उनकी मिलन की आतुरता है । रासक्रीड़ा के बीच कृष्ण जब-जब अन्तर्धान हो जाते हैं गोपियाँ उन्हें कालिंदी-तट पर मल्लिका मालती, नेवारी, जूही की क्यारियों के बीच, आम्र-बकुल-कदम्बादि वृक्षों के समीप खोजती और ताली दे-देकर टेरती फिरती हैं, भावोन्माद में वे तमाल वृक्षों से भ्रमवश लिपट-लिपट जाती हैं । जिन गोपिकाओं को प्रेम-संयोग का इतना सारा सुख मिल चुकता है या मिलने की संभावना रहती है वे यदि भाव-विभोर हो या प्रेम की लगन से भरकर इस प्रकार कह उठें, तो आश्चर्य ही क्या—

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो परलोक, नरलोक, बर लोकन मैं,
लीन्ही मैं अलीक लोक-लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाहि, मन जाहि, देव गुरुजन जाहि,
जीव किन जाहि टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन वारी बनवारी की मुकुट वारी,
पीतपटवारी वाही मूरति पै वारी हौं।।

यहाँ पर उसकी उद्विग्नतामयी प्रेम-निष्ठा अत्यन्त जीवंत रूप में व्यक्त हुई है।

जिन छंदों में राधा और कृष्ण के प्रेम का कथन हुआ है उनमें तो प्रेम की और भी प्रगाढ़, सरस एवं आह्लादकारिणी अभिव्यक्तियाँ हुई हैं। राधा और कृष्ण दोनों में ही एक-दूसरे के लिए अपार आकर्षण दिखलाया गया है। दोनों एक-दूसरे की आँखों में आँखें डालकर एक-दूसरे को देखते हैं, मुस्कराते हैं, हँसते हैं और एक-दूसरे पर निछावर होते हैं—

लोयन लोयन लागे अनूप दुहूँ के दुहूँ रसरूप लुभै कै।
मंद हँसी अरबिन्द ज्यौं बिंद अँचै गये दीठि खुभै कै।।

और इसके बाद—

दुहुन को रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई-नई।
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधिका मैं,
राधा मन मोहि-मोहि मोहन मई भई।।

कृष्ण और राधा के प्रेम-व्यापार चलने लगते हैं। कृष्ण सवेरे-ही-सवेरे किसी दिन राधिका के भवन में पहुँचते हैं, वह अत्यन्त झीनी चादर ओढ़ कर सोती रहती है। अकस्मात् आलस्य में उसकी एक बाँह खुल जाती है, उस स्वर्णवर्णी का कुन्दन वर्ण देखकर कृष्ण दिन भर बेचैन फिरते रहते हैं—

भोरहीं भोरहीं श्री वृषभानु के आयो अकेलोई केलि भुलान्यौ।
देव जू सोवत ही उत भावती झीनो महा झलकैं पट तान्यौ।
आरस ते उघरी इक बाँह भरी छबि हेरि हरी अकुलान्यौ।
मींड़त हाथ फिरै उमड़ो सो, मड़ो व्रज बीच फिरै मड़रान्यौ।।

राधिका एक दिन शरारत करती है। राजपौरिया का रूप बना कर वह कृष्ण के दरवाजे पर आती है और कहती है—हे कान्हा! चल, तुझे कंस बुला रहे हैं। किसके कहने से तुम दधिदान लेते हो? साथी-संगी तो भाग जाते हैं, किन्तु डरे हुए से कान्हा पकड़ में आ जाते हैं, लेकिन राधिका अपना कृत्रिम रूप संभाल नहीं पाती। कृष्ण को भयभीत देख कर उसका छल छूट जाता है, भौंहों की

कड़ाई ढीली पड़ जाती है और उसकी लज्जायुक्त मुस्कान उसके बनावटी वेश का भंडाफोड़ कर देती है—'**छूटि गयो छल सो छबीली को बिलोकनि में, ढीली भई भौंहैं वा लजीली मुसकान मैं।**' इसी प्रकार के एक-से-एक उन्मादक प्रेम-प्रसंगों के बीच राधा का प्रेम पल्लवित होता है। कालान्तर में यह प्रेम राधिका के हृदय में इस प्रकार उमड़ता है जिसका कोई हिसाब नहीं; उसे अपनी चेतना नहीं रहती, कृष्ण के प्रेम में जैसे बिक गई हो। गुरुजनों को जैसे किसी अनिष्ट की आशंका होने लगती है और राधिका है कि पागल बनी हुई है कृष्ण के प्रेम में ! ज्यों-ज्यों सखियाँ उसे सँभालती हैं, चैतन्य दिलाना चाहती हैं, वह बावली इस प्रकार की बातें बकती जाती है—'**राधिका प्यारी हमारी सौं तू कहि काल्हि की बैनु बजाई मैं कैसी ?**' इस प्रकार की प्रेममग्नता का श्रेष्ठतम उदाहरण देव का निम्नलिखित छंद है—

राधिका कान्ह को ध्यान धरै तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यौं अँसुवा बरसै बरसाने को पाती लिखै लिखि राधिकै ध्यावै।
राधे ह्वै जात तहीं छिन मैं वह प्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आप मैं आपुन ही उरझै-सुरझै बिरुझै समुझै समुझावै॥

प्रेमयोग के अन्तर्गत भावना की यह परमोच्च स्थिति है जहाँ प्रेमी और प्रिय एक हो जाते हैं। ऐसे भावयोग की दशा का वर्णन विद्यापति, सूरदास आदि पहले कर चुके हैं तथा 'पिय के ध्यान गही-गही रही वही है नारि' वाले दोहे में बिहारी ने इसी भाव-दशा को व्यक्त किया है।

प्रेम-वर्णन (वियोग)—वियोग-दशा के वर्णन में ही प्रेमी चित्त की दशा का वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्ष हो पाता है। मिलन-दशा के चित्रण में वैसा नहीं हो पाता। पति को परदेस जाने से कौन ऐसी प्रिया होगी जो न रोके ? रीतिबद्ध कवि देव की एक नायिका प्रियतम को रोकने के अनोखे ठाठ सजाती है। वह अपनी अभिनव तथा विचित्र रूप और वेशसज्जा द्वारा वसंत ऋतु को वर्षा ऋतु में परिणत करने के लिए कृत-संकल्प है जिससे प्रिय अपना विदेश जाना स्थगित कर दे—

नील पट तन पै घटान सी घुमाय राखौं,
दन्त की चमक सों छटा सी बिचरति हौं।
हीरन की किरनैं लगाइ राखौं जुगुनू सी,
कोकिला पपीहा पिकबानी सों डरति हौं।
कीच अँसुवन की मचाऊँ कवि 'देव' कहै,
पीतम बिदेश को सिधारिबो हरति हौं।
इन्द्र कैसो धनु साजि बेसरि कसति आजु,
रहु रे वसन्त, तोहि पावस करति हौं॥

यह सारी कल्पना हास्यास्पद-सी कही जा सकती है, परन्तु एक प्रेमिका के चित्त की ऐसी भी तरंग हो सकती है कलात्मक और साहित्यिक—बस इसी का इसमें वैशिष्ट्य है। विरह होता है और उस समय प्रिय नहीं उसकी याद विरहिणी का साथ देती है। याद और बेसुधी, यही उसका जीवन हो जाता है। वह प्रेम का नशा पीकर मतवाली बनी हुई है—

> प्याली भरि दै री मेरी सुरति-कलारी, तेरी
> प्रेम-मदिरा सों मोहिं मेरी सुधि भूली है।

प्रिय के ध्यान में व्यस्त-व्यग्र नायिका की जो अकथ व्यथा-दशा है उसकी अनुभाव-योजनामूलक यह विवृति देखिये—

> बैरागिनि कीधौं अनुरागिनि सोहागिनि तू,
> देवबढ़ भागिनी लजाति औ लरति क्यों।
> सोवति जगति अरसाति हरखाति, अन-
> खाति बिलखाति दुःख मानति डरति क्यों?
> चौंकति चकति उचकति औ बकति,
> बिथकति औ थकति ध्यान धीरज धरति क्यों?
> मोहति मुरति सतराति इतराति, साह-
> चरज सराहि आहचरज मरति क्यों॥

विरहिणी नाना प्रकार से आत्मदशा निवेदन करती हैं—हे प्रिय! तुम मेरे हृदय में बसते हो, फिर भी मेरी पुकार पर दया नहीं करते? मेरे तन-मन में और कौन है जो सदा समाया हुआ है? मैं ऊँचे चढ़-चढ़कर रोती हूं और तुम्हें लेश-मात्र भी करुणा नहीं आती। हे निरमोही, गात की आड़ में बैठकर सुनते नहीं, मेरे अन्दर बसते हुए भी मुझे ही तरसा और तड़पा रहे हो, क्या यह तुम्हारे लिए लज्जा की बात नहीं?

> ऐसे निरमोही सदा मोही में बसत अरु,
> मोही तें निकरि फेरि मोही न मिलत हौ।

नायिका प्रिय की सतत प्रतीक्षा में है और निष्ठुर प्रिय ऐसा है कि लौटता ही नहीं। वसंत की ऋतु है, अपने सम्पूर्ण विकास में वनस्पतियाँ लहरा रही हैं, कुंजों में हरियाली और सुरभि की बहार है, भ्रमरों का गुंजन चल रहा है, नदी-नालों के तट पर वृक्षों की सघन छाया में शीतलता का अखण्ड साम्राज्य है, पिकी के शोर से सारा प्रकृति-देश गूंज उठा है किन्तु भोली किशोरिका का मुँह कुम्हलाया हुआ है—

> ऐसे में किसोरी भोरी फोरी कुम्हिलाने मुख,
> पंकज से पाँय धरा धीरज सौं धरि जात।

सोहैं घनस्याम मग हेरति हथेरी ओट,
ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवति उतरि जाति ।।

वसंत की मादक ऋतु में विरहिणी की प्रिय-सम्बधिनी व्यग्रता का निदर्शन पर्याप्त स्वाभाविक और चित्रात्मक है। भारी प्रतीक्षा के बाद भी प्रिय नहीं आता—विरहिणी की अश्रुवर्षा रुकने का नाम नहीं लेती। भोजन-पान, स्वजन-गुरुजन किसी का उसे ध्यान नहीं; जाने कौन-सा पाप उस वियोगिनी के पीछे लग गया है कि एक पल के लिए भी उसे चैन नहीं। वह सोचती है इस समय तो मेरा चैतन्य ही मुझे मारे डाल रहा है। यदि मैं अज्ञान अथवा जड़ होती तो कम-से-कम ऐसी व्यथा तो न व्यापती—

होती जो अजान तो न जानती इतीक बिथा,
मेरे जिय जान तेरो जानिबो गरे परो ।।

विरह में वह अपने दिन किस प्रकार व्यतीत करती है, इसे उसके सिवा और कोई नहीं जानता। प्रिय का स्मरण, रूप-ध्यान, उसके लिए रोना, उसी के गुण गाना आदि कामों में यदि वह व्यस्त न होती तो आज वह विरह के इस दुर्भर काल में जीवित न रहती—

आँसुन के सलिल सिरावती न छाती जो,
उसास लागि कामागि भसम होतो ही ततो।
कोकिला के टेरत निकरि जातो जीव,
जो तिहारे गुन गनत उधेरत न बीततो ।।

विरहिणी किस कदर रोते-रोते रात-दिन एक किये दे रही है, इसकी तो चर्चा ही मत कीजिये। उसके दोनों नैन सावन-भादों बने हुए हैं। एक जगह कवि ने उसकी अश्रु-वर्षा पर सहृदयतापूर्वक कोई बात कहने के बजाय एक सूझभरी उक्ति इस प्रकार की है—हे कृष्ण, तुम्हारा रूप उसने आँखों से अपरिमित परिमाण में पी रक्खा है वही अब आधिक्यवश गिरा पड़ रहा है—रावरो रूप पियो **अँखियान भर्यो सु भर्यो उबर्यो सु ढर्यो परै।'** जो रूप उसकी आँखों द्वारा पीकर पचाया जा सका वह तो भीतर ही रहा; और जो अधिक हो गया, पच न सका, वह बाहर ढला पड़ रहा है। इस उक्ति में सहृदयता की जगह सूझ का ही वैशिष्ट्य माना जा सकेगा। अतिशय विरह की स्थिति राधिका के अन्दर आत्म-दैन्य के साथ-साथ स्वकर्मों पर पश्चात्ताप व्यक्त करने को बाध्य कर रही है—

राधे कही है कि तैं छमियो ब्रजनाथ किते अपराध किये मैं।
कानन तान न भूलत ना खिन आँखिन रूप अनूप पिये मैं।
आपने ओछे हिये मैं दुराइ दयानिधि देव बसाय लिये मैं।
हौं ही असाध बसी न कहूँ, पल आध अगाध तिहारे हिये मैं।।

स्मृति, स्वकीय अपराधों पर आत्मग्लानि और अपना दुर्भाग्य, इन सब बातों को इस छंद में मार्मिकता के साथ कहा गया है। नायिका या प्रेमिका की विरह-जन्य कृशता का वर्णन परंपरागत काव्य की ऊहात्मक या अतिशयोक्तिमूलक पद्धति पर ही चल कर किया गया है। यहाँ भी चमत्कृति का ही विशेष प्राधान्य गोचर होता है जब कवि कहता है कि प्रवासी लाल के वियोग की अग्नि में जलकर बाला सूख गई है, भोजन-पान, प्रेम-चर्चा सब कुछ छूट गई है तथा प्रियागम की अवधि भी व्यतीत हुई जा रही है—

देव जू आजु ही ऐवे की औधि सुबीतति देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ाइबे को उड़ि काग गरे परी चारिक चूरी॥

इसी प्रकार वियोग के दुःख में नायिका इस प्रकार सूख गई है कि सेज पर वह पड़ी हुई है, ऐसा नहीं जान पड़ता। कृशता इतनी अधिक है कि प्रतीत होता है जैसे मनोज रँगरेज ने सेज पर एक सुन्दर-सी सोने की बेल बना दी हो—

सो दुख दूखि परो तन सूखि मरै कि जियै सु परै न जनाई।
सेज पै ज्यों रँगरेज मनोज सलोनी सी सोने की बेल बनाई॥

दीर्घ कालक्षेप के अनंतर अपनी प्रेम-वियोगिनी के पास श्रीकृष्ण स्वयं तो नहीं आते, हाँ एकाध पत्र अवश्य भेजे देते हैं। उसे पाकर उसके हृदय में भावों का जो ज्वार उठता है, उसकी सुन्दर विवृति देव कर सके हैं। उस भावावेग में विरहिणी बह जाती है, संज्ञाशून्य हो जाती है—

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो,
तामैं तीनों लोकि बूड़ि गये एक संग मैं।
कारे कारे आखर लिखे जु कारे कागर,
सु न्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चित भंग मैं।
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि जिमि,
जम्बु रस बुन्द जमुना जल की तरंग मैं।
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यौ स्याम रंग मैं॥

पत्र आवे पर प्रिय न आवे, उसके आने की अवधि बढ़ती ही जावे, तो जीव किसके सहारे जिये ? कभी-कभी स्वप्न भी होता है जिसमें प्रिय मिलता है, यह स्वप्न-संयोग क्या-कुछ सुख दे पाता है ? नहीं, इससे तो दुःख ही द्विगुणित होता है। जो हो, ये स्वप्न-संयोग-चित्र हैं बहुत मधुर—

हौं सपने गई देखन को कहूँ नाचत नन्द जसोमति को नट।
वा मुसकाइ कै भाव बताइ कै मेरोई खैंचि खरो पकरो पट।
तौ लगि गाइ बगाइ उठी कहि देवबधूनि मथ्यौ दधि को घट।
जागि परी तो न कान्ह कहूँ न कदम्ब न कुंज न कालिंदी को तट॥

इसी प्रकार एक बार और गोपिका स्वप्न देखती है कि वर्षा की ऋतु है और श्याम उसके पास आकर झूला झूलने के लिए चलने का प्रस्ताव करते हैं, जीवन का समस्त माधुर्य जैसे उस क्षण उसके चरणों पर लोटने लगता है किन्तु उसके ऐसे भाग्य कहाँ कि वह उस राशीभूत सुख का लेश भी भोग कर सके—

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानों,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन मैं।
आनि कह्यौ स्याम मो सों चलौ झूलिबै कौं आज,
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं।
चाहत उठचोई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गये भाग मेरे जागि वा जगन मैं।
आँख खोलि देखौं तो न घन हैं न घनस्याम,
वेई छाईं बूँदें मेरे आँसु ह्वै दृगन मैं।।

वियोगिनी अपने इस अतिशय व्यथामय जीवन के लिए कभी खुद को धिक्कारती है, कभी प्रिय से प्रार्थना करती है, कभी उन तक अपनी दशा का संदेशा भिजवाती है। अपने मन को संबोधित करते हुए वह कहती है कि हे मन ! तेरा कहना मानकर इस जीव या प्राण को हमने इतना दग्ध किया है पर तूने इसकी सँभाल न की। तेरे कहने से ही प्रिय को देख लेने के बाद पलकोंने लगना बन्द कर दिया; उनकी बेचैनी का भी तूने कोई इलाज नहीं किया। ऐसे निरमोही से तेरे ही कहने से स्नेह के बंधन में बँधी, किन्तु उसने विपत्ति के समुद्र में हमें बेसहारा छोड़ दिया—हे मन ! तूने इस प्रकार हमें असंख्य दुःख दिये हैं, अब तेरे ऐसे कुकृत्य के लिए मैं तुझे क्षमा नहीं कर सकती—

ए रे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीन्हें अब,
ए केवार दै कै तोहिं मूँदि मारौं एक बार।

देव की उक्त पंक्ति हमें उन्हीं की इस उक्ति की याद दिलाती है—

भारो प्रेम पाथर नागरो दै गरे सौं बाँधि
राधा बर त्रिरद के बारिधि मैं बोरतो।

पद्माकर ने देव की ही देखादेखी यह उक्ति की होगी—

एरे दगादार मेरे पातक अपार तोहि
गंगा की कछार मैं पछारि छार करिहौं।

कभी उसकी दशा का विवरण कोई सखी जा कर श्रीकृष्ण को देती है कि वह विरह-जर्जर हो अस्थि-पंजर मात्र हो गई हैं, मनोज उसे व्यथित किये दे रहा है, वस्त्रादिकों की सँभाल अब वह नहीं कर पाती। आँसुओं का प्रवाह और निःश्वासों की दीर्घता उसे क्षण-क्षण खाये डालते हैं और क्षीण किये देते हैं,

उनकी आहें थम नहीं रहीं और हे कृष्ण, तुम ऐसे निर्दय हो कि तुम्हें किसी की पीड़ा ही नहीं व्यापती—

'देव' घरी पल जाति लुटी अँसुआनि के नीर उसास-समीरन।
आइन जाति अहीर अहै तुमैं कान्ह कहा कहौं काहू की पीर न॥

वह स्वयं अपनी दशा का निवेदन और पिय की कृपा की याचना इन शब्दों में करती है—

बरुनी बघम्बर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगौहैं भेष रखियाँ।
बूड़ी जल ही में दिन जामिनि हूँ जागैं,
भौंहैं धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
अँसुवा फटिक-माल लाल डोरे सेली पैन्हि
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरस 'देव' कीजिए सँयोगिनि, ये
जोगिन ह्वै बैठी हैं वियोगिनि की अँखियाँ॥

और भी तरह-तरह से देव ने विरहिणी की तीव्र वेदना और तड़प का चित्रण किया है। उसके तड़पने का अधोलिखित चित्रण अत्यन्त सजीव और हृदयग्राही है। इस हृदयग्राहिता में शब्दावली का योग ध्यान देने योग्य है—

बालम बिरह जिन जान्यौ न जनम भरि,
बरि बरि उठै ज्यौं ज्यौं बरसै बरफराति।
बीजन डुलावत सखीजन सो सीत हू मैं,
सौतिन-सराय तन-तापनि तरफराति।
'देव' कहैं साँसनि सों अँसुवा सुखात,
मुख निकसै न बात ऐसी सिसकी सरफराति।
लौटि लौटि परति करौट खटपाटी लै लै,
सूखे जल सफरी लौं सेज पै फरफराति॥

इस प्रकार देव का विरह-वर्णन एक अंश में ऊहात्मक और चमत्कार-प्रधान होते हुए भी पर्याप्त मार्मिक बन पड़ा है। अनेक उक्तियाँ चमत्कारपूर्ण होते हुए भी पर्याप्त मार्मिक और व्यंजक हैं। उदाहरण के लिए—

'देव' जू देखिये दौरि दसा ब्रज पौरि बिथा की कथा बिथुरी है।
हेम की बेलि भई हिमरासि घरीक मैं घाम सों जाति घुरी है।

अथवा

साँसन ही सों समीर गयौ अरु आँसुन ही सब नीर गयौ ढरि ।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनं की तनुता करि ।
'देव' जिये मिलिबेई की आस कि आसहु पास अकास रह्यौ भरि ।
जा दिन से मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि ।।

इन पंक्तियों में विरहिणी की अन्तिम कामदशा, मूर्च्छा या मरण—का निदर्शन हुआ है।

६

भक्ति, वैराग्य एवं तत्त्व-चिन्तन

देव कवि की कुछ कृतियाँ ऐसी हैं जो स्पष्ट ही शृंगार-भावना से मुक्त हैं तथा जिन्हें रस-दृष्टि से हम शान्त रस के अन्तर्गत रख सकते हैं। दीर्घ जीवन-काल के उत्तरार्ध में कवि ने भक्ति, वैराग्य और आध्यात्मिक आशयों को भी काव्यबद्ध करना आवश्यक समझा जिसके परिणामस्वरूप 'देव-चरित्र', 'देव-माया-प्रपंच नाटक,' 'देव-शतक' ऐसी रचनाएं सामने आती हैं। इसके भी पहले देव सं० १७५५ में शिवस्तुतिपरक एक साधारण रचना 'शिवाष्टक' लिख चुके थे जिसमें ८ छन्द हैं। 'देवचरित्र' की रचना कवि ने लगभग ७० वर्ष की अवस्था में सं० १८०० के लगभग की। इसमें लगभग १५० छन्द हैं जिनमें श्रीकृष्ण-जन्म, व्रज-सौभाग्य, बकी और तृणावर्त-वध, छठी, नामकरण, कृष्ण का शिशु-रूप, माखनचोरी, वृन्दावन गमन, बकासुर, कालवन, कालिया और प्रलंब नामक असुरों का विनाश, चीर-हरण, गोवर्द्धन-लीला, अक्रूर का आगमन, कृष्ण का मथुरा-प्रस्थान, कृष्ण द्वारा रजक का दण्डित होना, कुब्जा का उद्धार, कंस-वध, कृष्ण का द्वारिका प्रस्थान, रुक्मिणी स्वयम्वर, सत्यभामा, सोलह हजार रानियों की भौमासुर की अधीनता से मुक्ति तथा उनको अपने महल की रानी बनाना, प्रद्युम्न-जन्म, पांडवों की सहायता आदि प्रसंगों का वर्णन है तथा कृष्ण-माहात्म्य के कथन एवं उनके स्तुति-गान से ग्रन्थ की समाप्ति होती है।

आश्चर्य है कि कृष्ण के जीवनव्यापी इस वृत्तकथन-प्रधान काव्य को डा० नगेन्द्र ने खंड-काव्य कह दिया है। 'देवमायाप्रपंच' एक पद्यबद्ध नाटक है जिसकी शैली का आधार संस्कृत का 'प्रबोधचन्द्रोदय' बताया जाता है। कथा इस प्रकार है—परम पुरुष नामक व्यक्ति की दो स्त्रियाँ हैं : प्रकृति और माया, जिनसे क्रमशः बुद्धि और मन नामक संततियाँ होती हैं। मन माया के वशीभूत हो अपने पिता (परम पुरुष), विमाता (प्रकृति) और बहन (बुद्धि) तीनों से विद्रोह कर बैठता है जिसके परिणामस्वरूप परम पुरुष बन्दी बना लिये जाते हैं और बुद्धि भाग जाती है। बुद्धि भटकते-भटकते सत्संगति से मिलती है। इसके बाद धर्म और अधर्म के उभय पक्षों में युद्ध होने लगता है। उधर तर्क की सलाह से मन माया के फंदे से मुक्त हो जाता है, और अपने पिता से मिलकर क्षमा-याचना करता है। अधर्म की पराजय होती है, परम पुरुष माया के बन्धन से छूट जाता है। इस प्रकार अन्त में प्रकृति, मन और बुद्धि सभी का परम पुरुष से आनन्द-दायक मिलन होता है। इस प्रतीक-पद्धति पर रीतियुग में कई प्रबन्ध लिखे गए थे। केशव 'विज्ञानगीता' पहले ही लिख चुके थे। तथा आधुनिक युग में प्रसाद की 'कामायनी' और पन्त के 'लोकायतन' में अपनायी गई प्रतीक-शैली को कोई सर्वथा नई शैली नहीं कहा जा सकता। मूल्यवान अभिप्रायों से पूर्ण यह एक अच्छा रूपक है। 'देवशतक' चार पचीसियों का संग्रह है—जगद्दर्शन-पचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, तत्त्वदर्शनपचीसी और प्रेमपचीसी जिनमें क्रमशः संसार की असारता, जीव की भ्रमित स्थिति तथा उसकी भर्त्सना और ब्रह्म-तत्त्व का निरूपण किया गया है। प्रेमपचीसी में ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग बताया गया है जो प्रेम ही है, प्रेम ही जीवन का सारभूत साधन है जिससे परमसत्ता की प्राप्ति संभव है। भक्ति, वैराग्य और तत्त्वचिंतन-प्रधान इन रचनाओं में पर्याप्त अनुभूति-प्रवणता और गम्भीरता है।

ये रचनाएँ जीवन के अनुभवों से ओतप्रोत हैं और कवि के वार्धक्य में लिखी गई होंगी। ऐसी अनुभूतिगर्भित उक्तियों के मूल में जरूर ही लौकिक आसक्तियों से उत्पन्न अतृप्ति और अशान्ति रही होगी। देवकवि आजीवन धन, वैभव और सुखद आश्रय की तलाश में भटकते रहे, लौकिक आश्रयदाताओं की मृगमरीचिका उन्हें बहुत काल तक छलती रही और विषय-वासनाओं ने मन को बेतरह लोभी, चंचल और विषयासक्त बना रखा था—

> हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति में मति मेरी भुलानी।
> हौं समुझाय कियो रस-भोग न देव तऊ तिसना विनसानी।।
> दाड़िम दाख रसाल-सिता मधु ऊख पिये औ पियूष से पानी।
> पै न तऊ तरुनी तिय के अधरान के पीवे की प्यास बुझानी।।

विषयों की प्यास बुझती नहीं; जितना ही उसे बुझाया जाय वह और भी तीव्र होती चली जाती है। यही हाल देव का था। कोई भी राज्याश्रय इन सांसारिक आकांक्षाओं की अभिलषित परिमाण में पूर्ति न कर सका। बस, इसी कारण कवि ने तरुणी के रूप पर मुग्ध हुए चित्त को ईश्वर के चरण-कमलों पर समर्पित कर दिया होगा। कवि के मनोराग के इस सत्य का आभास देने वाली बहुतेरी पंक्तियाँ मिलती हैं—

> बीजु मरीचन के मृग लौं अब धावै न रे सुन काहे नरिंद के।
> इन्दु सो आनन तू जु चितै अरविन्द से पाँयन पूजि गुबिंद के ॥

भोगैषणाओं में आतिशयिक प्रवृत्ति पर उनका पश्चात्ताप इस प्रसिद्ध छन्द में व्यक्त हुआ है—

> ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
> ए रे मन मेरे, हाथ पाँव तेरे तोरतो।
> आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
> नेह सों निहारि -हारि बदन निहोरतो।
> चलन न देती देव चंचल अचल करि,
> चाबुक चिताउनीन मारि मुँह मोरतो।
> भारी प्रेम-पाथर नगारी दै गरे ते बाँधि,
> राधाबर बिरद के बारिधि में बोरतो ॥

यह हम बार-बार कह चुके हैं कि रीति-कवियों में भक्ति-भावना-विषयक संकीर्णता अपवादस्वरूप ही मिलेगी। देव ने शिव-स्तुति-सम्बन्धी शिवाष्टक भी लिखा और कृष्णभक्ति के छन्द भी कहे। मन उनका कृष्ण-भक्ति में विशेष रमता था ऐसा प्रतीत होता है। जिस राधाकृष्ण और गोपीकृष्ण के प्रेम-सम्बन्धों का विशद वर्णन उन्होंने किया उसी प्रेम के दैवत पर उन्होंने अपनी भक्ति भी निछावर की। कृष्ण के जन्मोत्सव, स्वरूप-सौन्दर्य और लीलाओं की मनोहारिता का वे बड़ी मग्नता से गायन करते पाये जाते हैं—

> (क) सूनो कै परम पदु, ऊनो कै अनंत मृदु,
> दूनो कै नदीस-नदु इन्दिरा फुरै परी।
> महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
> ईसन की सिद्धि ब्रज बीथिन बिथुरै परी।
> भादौं की अँधेरी अधराति मथुरा के पथ,
> आई मनोरथ 'देव' देवकी दुरै परी।

पारावार पूरन अपार पर ब्रह्मरासि,
जसुदा के कोरै एक बारक कुरै परी ॥

(ख) पायनि नूपुर मंजु बजै कटि किंकिन के धुन की मधुराई।
साँवरे अंग लसै' पट पीत हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल मन्द हँसी मुखचंद जुन्हाई।
जै जगमंदिर दीपक सुन्दर श्री ब्रजदूलह देव सहाई ॥

कृष्ण की भक्तवत्सलता के विविध दृष्टान्तों का भी कवि स्मरण करता है— ब्रज की गलियों में दौड़ना, नन्द की गोद में खेलना, गोपियों की भीड़ में नाचना, अर्जुन का रथ हाँकना, हिरण्यकश्यप का वक्ष विदीर्ण करना, गज को ग्राह के मुँह से छुड़ाना, बिदुर की भाजी, भिल्लनी के बेर और सुदामा के चावल खाना आदि। भक्त भगवान के ऐसे कर्मों का स्मरण कर बहुत बल का अनुभव करता है। श्रीकृष्ण के साथ-साथ श्रीराधा की भी देव ने स्तुति की है—

(क) श्री राधे ब्रजदेवि जै सुन्दर नन्द किसोर।
दुरित हरो चित के चितै नेंसुक दै दृग कोर ॥

(ख) दूजी नहिं देव 'देव' पूजौं राधिका के पद,
पलक न लाऊँ धरि लाऊँ पलकनि पै।

भक्ति की सच्ची लहर विराग से ही प्रेरित हुआ करती है। स्वार्थों के लिए की जाने वाली भक्ति भक्ति नहीं। वह तो सांसारिकता का ही पल्लवन है। देव में समय-समय पर वैराग्य का भाव जाग्रत हुआ था और उसकी तीव्र अभिव्यक्ति उन्होंने बार-बार की है जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। सांसारिक विषयैषणाओं की तीव्र प्रतिक्रिया-स्वरूप उनकी कविता में वैराग्य और भक्ति-संबंधी भाव आये हैं। ग्रन्थों के मंगलाचरण आदि के रूप में कृष्ण राधा, यशोदा, नन्द या देवी-देवताओ की स्तुति और प्रशसा के जो छन्द हैं वे तो परंपरा पालन मात्र है।

देव के काव्य में दार्शनिक विचारो की भी प्रचुरता मिलती है। ये दार्शनिक विचार हमारे चिर परिचित और परम्परागत ही हैं परन्तु काव्य के आवरण में वे सरसता के साथ-साथ अपना अलग प्रभाव लेकर आये हैं। देव कहते हैं कि संसार का यह सारा प्रसार माया का ही जाल है, चौदहों लोक उसी माया के शिकार हैं। इस सृष्टि में दृश्यमान जो कुछ भी सुख और ऐश्वर्य है, सौंदर्य और गौरव है, महत्ता और प्रतिष्ठा है वह सब माया का ही पचड़ा है; और जो कुछ मायामय है वह सभी नश्वर है और इसीलिए त्याज्य भी। धन-

वैभव, स्त्री-पुत्र सभी संसार से बाँधने वाले उपकरण हैं। ये एक-से-एक शक्तिशाली साधन हैं मन को वशीभूत करने के परन्तु इनके वशीभूत होकर अभिमान से उद्धत होकर संसार में कभी कोई बड़ा नहीं हुआ। एकमात्र सत्कर्म, औदार्य, निष्कपटता, दया, निरभिमान आदि गुणों से ही कोई इस संसार-से तर सकता हैं—

जगत प्रवाह पथ अकथ अथाह देव,
दया के निबाह कहूँ कोई तरि जातु है।
केंते अभिमानी भए पानी के बबूला, कोई
बानी बीजु धरम धरा पै धरि जातु है॥

इस माया-मोह की दुनिया में, इस व्यावसायिक सृष्टि में जो खरा दाम देकर पक्का माल (गुरु-उपदेश) नहीं खरीदेगा, उसका उद्धार ही नहीं हों सकता; मनुष्य-जन्म बार-बार मिलने वाला नहीं, इसीलिए अपनी आक्रबत इसी जन्म में बना लेने के सिवा हमारे पास दूसरा चारा नहीं है। इस व्यावसायिक जगत् के लिए देव का यह संदेश पर्याप्त मूल्यवान है—

आवत आयु को द्यौस अथौत गए रवि यों अँधियारिए ऐहै।
दाम खरे दै खरीदु खरो गुरु, मोह की गोनी न फेरि बिकैहै।
देव छितीस की छाप बिना, जमराज जगाती महादुख दैहै।
जात उठी पुर देह की पैंठ, अरे बनियै बनियै नहिं रहै॥

इस नश्वर संसार की ओर कवि ने बार-बार इशारा किया है और कहा है कि बड़े-से-बड़े वीर और प्रतापी पुरुष इस संसार में आ-आकर चले गए—रूप, गुण-शक्ति, संपदा कुछ भी टिकाऊ नहीं—

देव अदेव बली बलहीन चले गए मोह की हौंस हिलाने।
रूप कुरूप गुनौ निगुनी जे जहाँ उपजे ते तहाँ ही बिलाने॥

फिर तुच्छ मनुष्य किस बात का अभिमान कर सकता है? उसका तो अपना ही तन अत्यन्त दुर्बल, रोगग्रस्त और नश्वर है। विनाश के ज्वालामुखी पर तो वह खुद बैठा हुआ है—

बागो बन्यो जरपोस को तामहि ओस को तार तन्यो मकरी नैं।
पानी में पाहन पोत चल्यो चढ़ि, कागद की छतुरी सिर दीनै।
काँख में बाँधि कै पाँख पतंग के देव सुसंग पतंग को लीनै।
मोम के मन्दिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन दीनै॥

ऐसे नश्वर संसार में कौन किसका साथ देता है, धन-वैभव, साथी संगी, मित्र-कलत्र सब साथ छोड़ देते हैं, हमें सिर्फ अपना और अपने कर्मों का ही सहारा रह जाता है—

काम पर्‌यो दुलही अरु दूलह चाकर यार ते द्वार ही छूटे।
माया के बाजने बाजि गए परभात ही भातखवा उठि बूटे।
आतिसबाजी गई छिन मैं छुटि, देखि अजौं उठि कै अँख फूटे।
देव दिखैयन दाग बने रहे बाग बने ते बरोठेई लूटे।।

ऐसे असार और नश्वर संसार में हमें एकमात्र अपना ही भरोसा रह जाता है। गुरु के उपदेशों को श्रमपूर्वक सार्थक करने वाला जीवधारी ही संसार में अमर होता है, उसी की यश:काया दिक्-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई जीवित रहती है—**'सबद रसायनि के अरथ उपायनि, अमर तन कायनि अमर करि जातु है।'** यश की यह अमर काया किस प्रकार बन सकती है? देव का कहना है कि इसे सत्कर्मों से, सदाचार से, उच्चाशयी होकर निर्मित किया जा सकता है। जीवन को तपाना पड़ता है, ठीक रास्ते पर ले चलना पड़ता है, वृत्तियों का परिष्कार करना पड़ता है तभी अमरता प्राप्त होती है। गुरु का उपदेश मन में जब तक दृढ़ नहीं होता, विवेक का प्रयोग जब तक नहीं किया जाता, मानव-मात्र के प्रति प्रेम जब तक जागृत नहीं होता, क्षमा, दया आदि भावों का व्यापक रूप से आविर्भाव नहीं होता तब तक जीवन अकारथ ही जाता है और मूर्ख मनुष्य अज्ञानवश अपने जीवन को व्यर्थ ही गँवाता रहता है—

गुरुजन जामन मिल्यो न भयो दृढ़ दधि,
मथ्यो न विवेक रई देव जो बनायगो।
माखन मुकुति कहाँ छाँड़्यो न भुगुति जहाँ,
नेह बिनु सिगरे सवाद खेह नायगो।
बिलखत बच्यो मूल कच्यो सच्यो लोभ-भाँड़े,
तच्यो कोप-आँच पच्यो मदन सिरायगो।
पायो न सिरावन सलिल छिमा-छीटन सों,
दूध सो जनम बिन जाने उफनायगो।।

इस सांसारिकता के नाश का एकमात्र मार्ग है सद्बुद्धि का उदय, आत्मज्ञान और ईश्वर-प्रेम। देव का विश्वास सद्वृत्तियों के विकास में था, धर्म का आडम्बर-प्रधान रूप उन्हें न इष्ट था और न प्रिय। वे उसकी अनेक बार कुत्सा करते

पाये जाते हैं—बहुत-कुछ आधुनिक बुद्धिवादियों की तरह या कबीर की तरह। व्रतोपवास का आत्म-पीड़ाकारी मार्ग उन्हें ठीक नहीं लगता था और न ढोंगियों के झूठे प्रचार। इनकी उन्होंने खुलकर भर्त्सना की है—

(क) मूढ़ कहैं मरि कै फिरि पाइये ह्याँ जु लुटाइये भौन भरे को।
ते खल खोइ खिस्यात खरे अवतार सुन्यो कहुँ छार परे को।
जीवन तौ व्रत भूख सुखौत सरीर महा सुररूख हरे को।
ऐसी असाधु असाधुन की बुधि साधन देत सराध मरे को॥

(ख) पापु न पुन्य न नर्क न सर्ग मरो सुमरो फिरि कौने बुलायो।
गूढ़ ही बेद पुराननि बाँचि लबारनि लोग भले भुरकायो॥

(ग) जो कुछ पुन्य अरन्य जलस्थल तीरथखेत निकेत कहावै।
पूजन जाजन औ जपदान अन्हान परिक्रम गान गनावै।
और किते व्रत नेम उपास अरंभु कै देव को दंभु दिखावै।
हैं सिगरे परपंच के नाच जु पै मन मैं सुचि साँच न आवै॥

मन में सत्य प्रतिष्ठित हो जाय, यही सबसे बड़ा पुण्य है; सबसे बड़ा धर्म है, इसी से अभीष्ट-सिद्धि का मार्ग प्रशस्त हो चलता है। मन में सत्य की प्रतिष्ठा हो और प्रेम-प्रतीति हो, बस फिर सारे जग-जाल और भव-भ्रम छूट जाते हैं। ईश्वर धार्मिकता के शत-शत दिखावटी कार्य-व्यापारों में कहाँ है, वह तो सर्वत्र व्याप्त है और प्रीति-प्रतीति से ही प्राप्य है—

कथा मैं न, कंथा मैं न, तीरथ के पंथा में न,
पोथी मैं, न पाथ मैं, न साथ की बसीति मैं।
जटा मैं न, मुंडन न, तिलक त्रिपुण्डन न,
नदी-कूप कुण्डन अन्हान दान-रीति मैं।
पैठ-मठ-मंडल न, कुंडल कमंडल न,
माला दण्ड मैं न, देव देहरे की भीति मैं।
आप ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यौ,
पाइये प्रगट परमेसर प्रतीति मैं॥

ईश्वर-प्रेम में जब भक्त रम जाता है और प्रेम-रस की जब वर्षा होने लगती है तब मनुष्य की सारी सांसारिकता बह जाती है, वह दिव्य और ईश्वरीय हो जाता है—

देव घनस्याम-रस बरस्यो अखंड धार
पूरन अपार प्रेम-पूर नहिं सहि परयौ।

विषै बन्धु बूड़े, मद-मोह-सुत दबे देखि,
अहंकार मीत मरि, मुरझि महि परयो।
आसा त्रिसना सी बहू-बेटी लै निकसि भाजी,
माया मेहरी पै देहरी पै नहिं रहि परयो।
गयौ नहिं हेरौ, लयौ बन में बसेरौ, नेह-
नदी के किनारे मन-मंदिर ढहि परयो।।

उसे सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर दिखाई देता है, कण-कण में वह एक ही सत्ता के दर्शन करता है—

मिलि गयौ मूल-थूल, सूच्छम समूल कुल,
पंचभूत गन अनुकन मैं कियौ निकेत।
आप ही ते आप ही सुमति सिखराई 'देव'
नख सिख राई में सुमेरु दिखराई देत।।

मनुष्य प्रीति-प्रतीति से पवित्र हो आत्मज्ञ हो उठता है, स्वयंप्रकाश हो जाता है। जगत का सत्य उसे गोचर होने लगता है। सर्वत्र वह ईश्वरीय सत्ता की ही प्रतीति करने लगता है।

मूलतः श्रृंगारी कवि होते हुए भी अपनी ढलती आयु में देव ने जो भक्ति, वैराग्य और तत्वज्ञान की बातें लिखीं उनकी प्रेरणा जीवनानुभव भी रही होगी। प्रकृत्या वे भक्ति के कवि न थे पर संसार की लोभ-लिप्साओं, भोगैष्णाओं में लिप्त रह कर, भोगवासनामय जीवन का अनुभव प्राप्त कर यदि उनमें संसार से विरक्ति और ईश्वर-भक्ति का भाव जागृत हुआ हो तो इसमें अनौचित्य ही क्या। संसार की असारता, उससे विरक्ति, जीव की नश्वरता, एक मात्र सत्य ईश्वर के प्रति रुझान आदि बातें तो ऐसी हैं जो प्रत्येक भारतीय के मन में संस्कार रूप से ही विद्यमान पाई जाती हैं, देव तो फिर भी अत्यन्त सजग प्राणी थे। वे दर्शन आदि विषयों का पर्याप्त ज्ञान रखते थे इसका प्रमाण 'देवमाया प्रपंच' पर्याप्त परिमाण में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार कुछ अनुभूति की प्रेरणा से, कुछ बौद्धिक प्रेरणा से, कुछ तत्वज्ञान की पुस्तकों के अध्ययन से, और कुछ परम्परागत रूप में देव भक्ति, वैराग्य और दर्शनप्रधान कृतियों के प्रणयन में दत्तचित्त हुए।

देव ने लिखा है कि यह संसार माया का प्रसार है, सृष्टि में जो कुछ भी दृश्यमान है वह सभी माया के प्रभाव में है। मनुष्य जानकर भी माया की दासता से मुक्त नहीं हो पाता। संसार की नश्वरता और क्षणिकता देखते हुए भी वह बलात् माया का शिकार बन जाता है और विषयों की ओर उन्मुख होता

रहता है। उसके मन की आशाकांक्षाएं पूरी भी नहीं होने पाती कि यह नश्वर जीव काल का ग्रास हो जाता है—

'मन की मिटी न तौ लौं आप ही मिटि रह्यो।'

ऐसे मूर्ख प्राणी को कवि चेतावनी देता है। कहता है, कि हे मनुष्य तूने खुद ही अपने आपको इस मकड़ी के जाले (माया) में फंसा रक्खा है। तू यह क्यों भूलता है कि तू ही सृष्टि का केन्द्र है और विधाता की विलक्षण और श्रेष्ठतम सृष्टि। तेरे अन्दर अशेष सामर्थ्य है फिर भी तू दीन होकर इन्द्रियों की दासता में क्यों पड़ा हुआ है? जरा उठ! और अपनी आंखों से अज्ञान का परदा हटा दे। कपट के दरवाजे खोलकर अपने ही अन्दर झांक, वहीं तुझे आत्मदर्शन होंगे और उसी आत्म दर्शन में सृष्टिदर्शन और ब्रह्मदर्शन सभी कुछ लब्ध होगा—

तेरे अधीन अधिकार तीनों लोक को,
सु दीन भयो क्यों फिरै मलीन घाट बाट हैं।
तो मैं जो उठन बोलि ताहि क्यों न मिलै डोलि,
खोलिए हिये में दिये कपट कपाट हैं॥

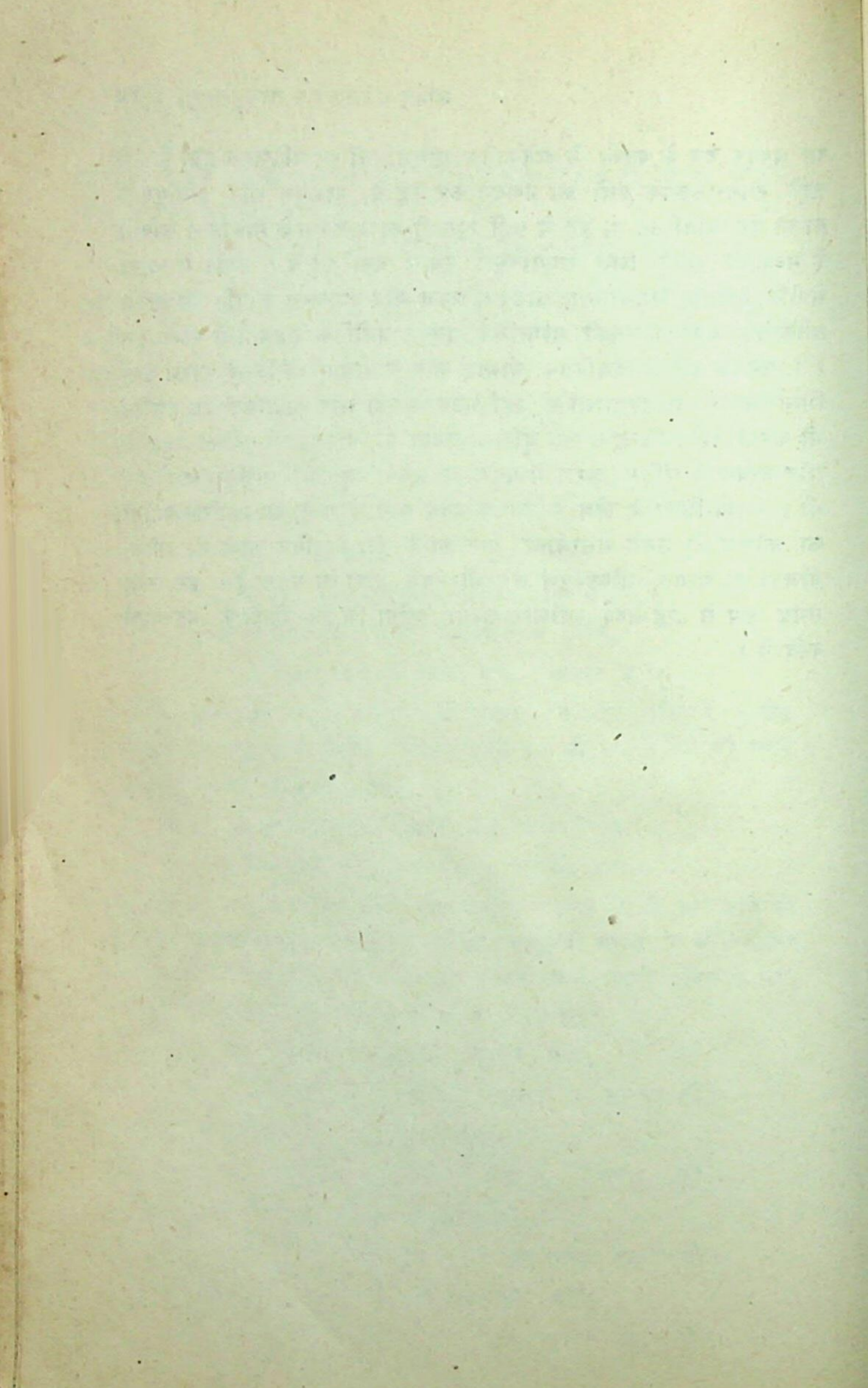
देव तत्त्वज्ञ होकर भी ज्ञान और वैराग्य की अपेक्षा प्रेम और भक्ति के कायल थे। ज्ञान और वैराग्य की महत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्होंने प्रेम की लगन और भक्ति को ही महत्त्व दिया है—

शान्त रस सु निर्वेद वढ़ि, होत ज्ञान बैराग।
रीक्ष तुच्छ सुं है बिना प्रेम भक्ति की लाग॥

इसी प्रेम-पंथ का अनुधावन करते हुए उन्होंने श्याम रंग में समा जाने की अभिलाषा व्यक्त की है—'स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मैं।' ईश्वर के दिव्य और सर्वव्यापी स्वरूप के कायल होकर भी वे अपनी भक्ति के लिए उन्हें विराट् रूप-गुण-शील पुरुष के रूप में ही देखते हैं—

देव नभ मंदिर में बैठारचो पुहुमि पीठ,
सगरे सलिल अन्हवाय उमहत हौं।
सकल महीतल के मूल-फल फूल-दल,
सहित सुगंधन चढ़ावन चहत हौं।
अगिनि अनंत. धूप दीपक अनंत ज्योति,
जल थल अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौर, कामना न मेरे और,
आठौ जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं॥

इस प्रकार देव के काव्य में अनेकानेक भावभूमियों का प्रतिफलन हुआ है। वे जहाँ रीति-निरूपक ग्रंथों का प्रणयन कर रहे थे, राजगुरु और कवि-गुरु के आसन पर प्रतिष्ठित हो रहे थे वहीं शृंगारी काव्य-रचना के माध्यम से कवियों के मध्य भी अपने लिए सम्मानपूर्ण स्थान बना रहे थे। संसार में व्याप्त अनीति, अन्याय, असमानता, आडंबर, प्रपंच और दुराचरण के प्रति भी उनके अनेकानेक वक्तव्य उनकी सामाजिक एवं राजनीतिक सजगता के परिचायक हैं। उनकी अपनी वैयक्तिक सीमाएँ और समस्याएँ थीं जिनके कारण उन्हें भिन्न-भिन्न आश्रयदाताओं के यहाँ भटकना पड़ा और अवांछित राजप्रशस्ति भी करनी पड़ी; किन्तु उनकी वृत्तियाँ उदात्त थीं, वे स्वयं भी पर्याप्त प्रबुद्ध थे और जीवन के अंतिम चरण में पहुँचकर उनकी वृत्तियाँ भगवदुन्मुख हो गई थीं। काव्य-शिल्प के क्षेत्र में उनका प्रदेय असाधारण है, आलंकारिक प्रयोगों का कौशल तो उनमें असामान्य स्तर का है ही, आधुनिक काव्य की प्रतीक-योजना का अत्यंत सौष्ठवपूर्ण रूप भी उनमें देखा जा सकता है। इस तरह समग्र रूप से यह तथ्य स्वीकार करना पड़ेगा कि देव हिन्दी के महत्त्वपूर्ण कवि थे।



रूप-सौन्दय

देव मैं सीस बसायो सनेह कै भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यौ ।
कंचुकी मैं चुपर्‌यौ करि चोवा लगाइ लियौ उर सों अभिलाख्यौ ।
कै मखतूल गुहे गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ ।
साँवरे लाल को साँवरौ रूप, मैं नैनन में कजरा करि राख्यौ ।।१।।

रूप के उपभोग की वासना यहाँ पर अत्यन्त प्रगाढ़ रूप में देखी जा सकती है। साँवरे लाल के साँवरे रूप को कंचुकी में चोवा के रूप में चुपड़ना और उसे वक्ष में भर लेना, शृंगार के रूप में उसका आस्वाद लेना, नयनों में उसके श्यामल रूप का अंजन लगाना तीव्रतम ऐन्द्रिक आसक्ति का ही प्रमाण है। मृगम्मद—कस्तूरी। कै मखतूल—काले रेशम की डोरी बना करके। प्रिय के परम स्पृहणीय रूप को नाना भाव से इन्द्रियगत किया गया है। अलंकार—मालोपमा, रूपक। प्रेमिका ने प्रिय के श्यामल रूप को अपने अंग-प्रत्यंग में समेट लिया है। प्रिय के श्याम वर्ण के प्रति उसका उन्मेष असाधारण है।

देव न देखति हौं दुति दूसरि देखे हैं जा दिन ते यदु भूप में ।
पूरि रही री वही पुर कानन कानन आनन ओप अनूप में ।
ये अँखियाँ सखियानि निहारिये जाइ मिली जलबुंद ज्यों कूप में ।
कोटि उपाइन पाइये फेरि समाय गई व्रजराज के रूप में ।।२।।

रूप-वर्णन करते हुए प्रिय की अंगकांति पर दृष्टि विशेष रूप से निबद्ध है और रूप के प्रभाव का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। प्रिय के रूप की चित्तहारिणी शक्ति अद्वितीय है। उसी की आवाज़ हमारे कानों में छायी हुई है और उसकी मुख की आभा जैसी आभा कहीं दिखाई नहीं देती। उसे देखकर मेरी आँखें मेरे बस में नहीं हैं। वे तो बस रंगराय के रूप में जाकर समा गई हैं। इन शब्दों में प्रेमिका (गोपिका) अपने प्रिय का रूप बखान कर रही है अलंकार—उदाहरण।

अनुराग के रंगिन रूप तरंगनि अंगनि ओप मनौ उफनी ।
कवि 'देव' हिये सियरानी सबै सियरानी को देखि सुहाग सनी ।
बर धामनि बाम चढ़ी बरसैं मुसुकानि सुधा घनसार घनी ।
सखियान के आनन-इंदुन ते अँखियान की बंदनवार तनी ।।३।।

सीता के रूप का अत्यंत मोहक वर्णन है—सीता जो अपने रूप की तरंगों और अंग की कांति से अत्यंत आभामयी हैं उन्हें राम के साथ आया हुआ देखने के लिए सखियों की आँखों की बंदनवार-सी तन जाती है। छंद के अंतिम चरण की उक्ति में असाधारण रमणीयता है। रूप की तरंगों वाली उक्ति घनानन्द का स्मरण कराती है—'अंग अंग तरंग उठै दुति की परिहै मनो रूप अबै धर च्वै।' अलंकार—यमक और रूपक।

फटिक सिलानि सो सुधार्‌यौ सुधा मंदिर,
उदधि दधि कौ-सो अधिकोई उमँगै अमंद ।
बाहेर ते भीतर लौं भीति न दिखैए 'देव',
दूध कैसो फेनु फैलो आँगन फरस बंद ।
तारा-सी तरुनि तामें ठाढ़ी झिलमिल होति
मोतिन की जोति मिली मल्लिका कौ मकरंद ।
आरसी से अंबर में आभा-सी उज्यारी लागै
प्यारी राधिका कौ प्रतिबिंब सो लगत चंद ।।४।।

उज्ज्वल परिवेश में राधिका की उज्ज्वलता का यह चित्र हिन्दी-काव्य में अद्वितीय है। सुधा (अमृत या चूने) की सफेदी वाला प्रासाद हो, उसमें स्फटिक-शिलाओं का उज्ज्वल फर्श हो, दधि-समुद्र सा तरंगित आनन्द हो। फर्श पर दुग्ध-फेन की सी शुभ्रता हो। उसमें मोतियों की आभा और जुही की सुरभि से प्रकाशित और सुरभित तारे के समान तरुणी (राधा) खड़ी झिलमिला रही हो। ऐसी दिव्योज्ज्वल रूप-छवि है राधा की। रजत आकाश में राधिका की इसी पारिवेशिक धवलता की आभा छिटकी हुई है और आकाशीय चंद्रमा इसी राधिका का प्रतिबिंब-सा लगता है। राधिका का यह माहात्म्य-कथन और उसकी धवल दीप्ति का ऐसा उत्कर्षपूर्ण प्रत्यंकन विरल है। उपमानों के निरादृत होने के कारण उपमाओं के साथ-साथ प्रतीप का भी विधान देखा जा सकता है।

कातिक पून्यो की राति ससी दिसि पूरब अंबर मैं जिय जान्यौ।
चित्त भ्रम्यौ पुमनिंदु मनिंदु फनिंदु उठ्यौ भ्रम ही सों भुलान्यौ।
देत कछू बिसवास नहीं, सोइ पुंज प्रकास अकास मैं तान्यौ।
रूप-सुधा अँखियान अँचै निहचै मुख राधिका को पहिचान्यो ।।५।।

पुमनिंदु—पूर्णेन्दु, पूर्णिमा का चन्द्रमा। मनिंदु फनिंदु—चंद्रकान्त-सी मणि धारण करने वाला सर्प। अँचै—पीकर। निहचै—निश्चय। कृष्ण को कार्तिक-पूर्णिमा के दिन राधिका का पूर्णेन्दु-सा मुख देखकर पहले तो चन्द्रमा का भ्रम हुआ, किन्तु बाद में मणिजटित केश-पाश देखकर भ्रम छिन्न हो गया और उनके रूप की सुधा पीकर तो निश्चय ही हो गया कि यह चन्द्रमा नहीं, राधा है। अलंकार—भ्रान्तिमान और व्यतिरेक।

राधे के रूप निहारि सबै कवि मूक भये उपमा नहिं आवै।
को करि कुंभनि केहरि कीर री कुंद कली कदलीन गनावै।
कंचन कंचन कीन्हो अकंचन को चित चंपक चोप बढ़ावै।
देव जू निंदित इंदीवरै सब इंदिरा इंदु न आदर पावै ।।६।।

राधिका के रूप का वर्णन आलंकारिक शैली में किया गया है। सारे उपमानों को लज्जित कराया गया है तथा राधिका के रूप को सर्वोपरि ठहराया गया है। अलंकार—प्रतीप और रूपकातिशयोक्ति।

आई हौं देखि वधू इक देव सु देखत भूली सबै सुधि मेरी।
राख्यौ न रूप कछू बिधि के घर ल्याई है लूटि लुनाई की ढेरी।
एरी अबै वह ऐवै है बैस मरेंगी महा विष घूंटि घनेरी।
जे जे गनी गुनआगरि नागरि ह्वै हैं ते वाके चितौत ही चेरी ।।७।।

राधिका के रूप का वर्णन है जो विधाता के यहाँ से सारे का-सारा लावण्य लूट कर ले आई है और जिसे देखकर देखने वाला अपना होश खो बैठता है। संसार में जो-जो भी चतुर स्त्रियाँ गुणी और रूपवती कही जाती हैं, उसे देख लेने पर उसकी दासी हो जायेंगी।

त्रिवली तिरगनि निकट नाभि ह्रद तट
रोमराजी वन धँसि मुकत अन्हात हैं।
नेह नगरी मैं गुन गेह उर ऊँची पौरि
देव कुच कंचन के कलस लखात हैं।
लोचन दलाल ललचावत बटोहिन कौ
लाल चलि देखौ लाल मोलनि लहात हैं।
जोवन बजार बैठ्यौ जौहरी मदन सब
लोगनि को हीरा वाके हाथ ह्वै बिकात हैं ॥८॥

नायिका से रूप-सौन्दर्य का वर्णन आलंकारिक पद्धति पर किया गया है। अलंकार—सांगरूपक, विरोधाभास।

आगे आगे आसपास फैलति विमल बास
पीछे पीछे भारी भीर भौंरनि के गान की।
तातें अति नीकी किंकिनी की झनकार होति
मोहिनी है मानो मन मोहन के कान की।
जगमग होति जात जोति नवजोवन की
देखे गति भूले मति देव देवतान की।
सामुहे गली के जु अली के संग भली भाँति
चली जाति देखो वह लली वृषभान की ॥९॥

यहाँ पर राधिका के सौन्दर्य का—उसकी अंगगत सुवास का, उसकी गति की नादात्मकता का, उसके यौवन की जगमगाहट का—वर्णन किया गया है। इस सौन्दर्य-वर्णन का वैशिष्ट्य निरलंकृत होने में है।

तेरी सी बेनी है स्याम अमा अरु तेरीयै बैनी है स्याम अमा सी।
पूरनमासो सो तू उजरी अरु तोसी उज्यारी है पूरनमासो।
तेरो सो आनन चंद लसै तुअ आनन मैं सखि चंद समासी।
तोसी बधू रमनीय रमा कवि देव है तू रमनीय रमा सी ॥१०॥

यहाँ पर नायिका का सौन्दर्य वर्णित हुआ है। सौन्दर्य-वर्णन के संदर्भ में उसकी वेणी की श्यामता, उसके अंग की धवलता, उसके मुख की शोभा-सम्पन्नता और सब मिलाकर उसकी रमणीयता का वर्णन किया गया है। अलंकार—उपमेयोपमा।

मंदहास चंद्रिका कौ मंदिर बदन चंद
सुन्दर मधुर बानि सुधा सरसाति है।
इंदिरा के ऐन नैन इंदीवर फूलि रहे
विद्रुम अधर दंत मोतिन की पाँति है।
ऐसो अदभुत रूप भावती को देखौ देव
जाके बिनु देखे छिन छाती न सिराति है।
रसिक कन्हाइ बलि पूछन हौं आई तुम्हैं
ऐसो प्यारी पाइ कैसें न्यारी राखी जाति है ॥११॥

नायिका का रूप-वर्णन करते हुए नायक के चित्त में नायिका के स्थान का संधान किया गया है। पूछा गया है कि ऐसी प्यारी प्रिया से पृथक् कैसे रहते बनता है? इस छंद के प्रथम और द्वितीय चरणों में रूपक अलंकार है।

कौन के होइ न ही मैं हुलास सु जा त सबै दुख देखत ही दवि।
जाहि लखे बिलखे यहि भाँति परै मनु सौति सरोजनि पै पवि।
याही तें प्यारी तिहारी मुखद्युति चंद समान बखानत हैं कवि।
आनन ओप न होत मलीन पै छीन है जाति छपाकर की छवि ॥१२॥

नायिका की रूप-छवि का वर्णन करते हुए कमल को उसके सामने निस्तेज बताया गया है तथा चन्द्रमा को प्रभाहीन। अलंकार—व्यतिरेक।

गंग-तरंगिनि बीच बरंगनि ठाढ़ी करैं जपु रूप उदोती।
'देव' दिवाकर की किरनैं निकसैं बिकसैं मुख पंकज जोती।
नीर भरी निचुरैं अलकैं छिटकैं छटकैं मनो माँग ते मोती।
बिज्जुली से झलकैं लपटैं कन कज्जल-से अँग उज्जल धोती ॥१३॥

गंगी की लहरों में स्नान करने बाद पूजा करती हुई रूपवती स्त्री का यहाँ पर चित्रण हुआ है। उसकी अंग-कांति, जल से भरी हुई केशराशि आदि का बहुत ही जीवंत चित्रण हुआ है। अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा।

केस भाल भृकुटि नयन श्रुति औ कपोल,
नासिका अधर दंत चिबुक बिचारियै।
कंठ कुच नाभी त्रिवली औ रोमावली कटि,
भुज कर जानु पग प्यारी के निहारियै।
कुहू तम चंद चाप खंजन कनक पुट
पत्र सुक बिंब मोती चंपकली वारियै।
कंबु निंबु कूप नदी सैवाल मृनाल लता
पल्लव कदलि कंज चेरे करि डारियै ॥१४॥

इस छंद में नायिका का सौन्दर्य वर्णित है तथा उसके अंग-अंग के लिए यथाक्रम उपमान उपस्थित किये गये हैं। अलंकार—प्रेय और क्रम।

केवली समूढ़ लाज ढूंढ़त ढिठाई पैये,
चातुरी अगूढ़ गूढ़ मूढ़ता के खोज हैं।
सोभा सील भरत अरति निकरत सब
मुरि चले खेल पुरि चले चित्त चोज हैं।
हीन होति कटि तट पीन होत जघन,
सघन सोच लोचन ज्यों नाचत सरोज हैं।
जाति लरिकाई तरुनाई तन आवत सु
बैठत मनोज देव उठत उरोज हैं ॥१५॥

केवली—ब्रह्मात्म-ज्ञानी, मुक्ति का अधिकारी साधु; मुक्ति, जन्म-पत्री। चोज—मनोरंजक, चमत्कारपूर्ण उक्ति, सुभाषित, हँसी-ठट्ठा, विशेषतः व्यंगपूर्ण उपहास। अलंकार—परिवृत्त।

दूध सुधा मधु सिंधु गँभीर ते, हीर जुपै नग भीर लै आवैं ।
बाल प्रवाल पला मिलि कै मन-मानिक मोतिन जोति जगावैं ।
लै रजनीपति बीच बिरामनि, दामिनि दीप समीप दिखावैं ।
जो निज न्यारी उज्यारी करै तब प्यारी के दंतन की द्युति पावैं ।।१६।।

यहाँ पर नायिका की दंत-दीप्ति का वर्णन किया गया है। कवि ने दुग्ध, सुधा और मधु के गंभीर सिंधु से हीरे और नाना भाँति के नगों (रत्नों) की भीड़ बुलवाई है; प्रवाल (मूँगा), माणिक्य और मोतियों की ज्योति जाग्रत कराई और चंद्रमा के बीच दामिनी की न्यारी उजियाली का विधान किया है। इतना सब असंभव जब सम्भव हो तब प्यारी (नायिका या राधिका) के दाँतों की चमकदार आभा प्रत्यक्ष हो सकती है। अलंकार—संभावना।

खंजन मीन मृगीन की छीनी दृगंचल चंचलता निमिखा की।
'देव' मयंक की अंक की पंक निसंक लै कज्जल-लीक लिखा की।
कान्ह बसी अँखियान विषे विसफूरति वीस बिसे बिसिखा की।
दीपति मैन-महीप लिखाई समीप सिखा गहि दीप-सिखा की ।।१७।।

इस छंद में नायिका के नेत्रों के बहुविध गुणों का वर्णन किया गया है। खंजन, मीन और मृग की चंचलता उसके नेत्रों ने छीन ली है; चंद्रमा के कलंक का काजल लगा रक्खा है; विषबुझे वाणों की मारकता उसने ले रखी है और दीपशिखा पास में रखकर उसके नयनों ने कामदेव की ज्योति (या दृष्टि) जला रखी है। बहुत ही सुन्दर, कल्पना-संवलित और समर्थ अलंकार-योजना की गई है इस छंद में। अलंकार—प्रतीप।

ये अँखियाँ बिनु काजर कारी अन्यारी चितै चित मैं चपटै सी।
मीठी लगैं बतियाँ मुख सीठिओ मूनैं नव मौतिन को दपटै सी।
अंगहू राग बिना अंग-अंग झकोरैं सुगंधन की झपटै सी।
प्यारी तिहारो ये एड़ि लसैं बिनु जावक पावक की लपटै सी ।।१८।।

नायिका के अंग-सौंदर्य का वर्णन करते हुए इस छंद में उसकी आँखों, बातचीत, अंग-गंध तथा एड़ियों का वर्णन किया गया है। चपटै—चिपकती हैं, आकर्षित करती हैं। सीठियो—सारहीन, निकम्मा, विरस भी। दपटै—झपटती है, डाँटती है। लपट—ज्वाला। जावक—महावर। अलंकार—छंद के प्रत्येक चरण में विभावना।

धार मैं धाय धँसी निरधार ह्वै जाय फँसी उकसी न अँधेरी।
री! अँगराय गिरी गहिरे गहि फेरे फिरी न घिरी नहिं घेरी।
'देव' कछू अपनों बस ना रस-लालच लाल चितै भई चेरी।
वेगि ही वूड़ि गई पँखियाँ अँखियाँ मधु की मँखियाँ भई मेरी ॥१६॥

अपनी तुलना मधुमक्खी से करते हुए प्रेमिका (भक्त या कवि) प्रिय (कृष्ण या ईश्वर) के दुर्निवार आकर्षण का संकेत कर रही है। प्रिय के रूप गुण इतने मधुर हैं कि उसकी तरफ जाकर गिरते ही बनता है। उसके गाढ़ प्रीति-रस से सिक्त होकर फिर लोकाभिमुख होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अलंकार —उपमा।

भोर ही भोरे ही श्री वृसभानु के आयौ अकेलोई केलि भुलान्यौ।
देवजू सोवत ही उत भामती झीने महा झलकै पट तान्यौ।
आरस ते उघरी इक बाँह भरी छवि देखि हरी अकुलान्यौ।
मींड़त हाथ फिरै उमड़ यौ-सो मड़ो व्रज बीच फिरै मँड़रान्यौ ॥२०॥

उपभोगमूलक और वासनामयी सौंदर्यानुभूति के बहुतेरे छंद देव ने लिखे हैं जो ऐन्द्रियता से भरपूर हैं। ऐसे छंदों में यौवन की ऊष्मा, तीव्रता और प्रगाढ़ता मिलेगी। रीतिकालीन अन्य कवियों में भी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, परन्तु देव में तो इसका प्राचुर्य है। वे गहरे रसिक थे। उनकी संपूर्ण चेतना नारी के अंगों की तो जैसे भाँवरें दिया करती थी। इसी छंद में देखिये, नायिका झीना पट ओढ़े हुए सो रही है। आलस्य से एक बाँह उघर गई। उस बाँह की भरी छवि को देखकर नायक व्याकुल होकर उसके चारों ओर हाथ मींड़ता हुआ मँडराता फिर रहा है। यहाँ वासना की भीनी मधु-गंध है, मादक ऐन्द्रियता है।

एक तुही वृषभानसुता अरु तीनि हैं वै जु समेत सची हैं।
देवो रमा कवि देव उमा ये त्रिलोक मैं रूप की रासि मची हैं।
औरन केतिक राजन के कविराजन की रसना पै नची हैं।
पै वर नारि महा सुकुमारि ये चारि विरंचि विचारि रची हैं ॥२१॥

यहाँ पर औरों की तुलना करते हुए संसार में चार स्त्रियों की महत्ता बताई गई है—रमा, उमा, शची और राधिका। विधाता ने वैसे तो बहुतों को रचा है, पर इन्हें विचारपूर्वक रचा है। अलंकार—तुल्ययोगिता।

मौन गह्यौ कल कंठ कपोतनि सारस हंस सु चालहि हेरे।
सार्यो सुवानि सु बानि परी जु सुवानि सुने नित साँझ सवेरे।
चौंकत से चकई चकवा कहि देव उदै मुख चन्द उजेरे।
भारिये भीर करे रहैं भौंर सु मोर चकोर रहैं घर घेरे ॥२२॥

इस छंद में नायिका के सौंदर्य का वर्णन आलंकारिक पद्धति पर किया गया है तथा कपोत, सारस, हंस, शुक आदि प्रसिद्ध उपमानों का महत्त्व उपमेय की तुलना में कम ठहराया गया है तथा चक्रवाक-युगल, भ्रमरों और चकोरों को भीड़ लगाये हुए दिखाया गया है। अलंकार—प्रतीप, भ्रान्तिमान। 'सुमिल-विनोद' में यह छंद पद्मिनी नायिका के उदाहरण के रूप में आया है।

बोली न आँखिन तानि कहूँ पट ओट तिरीछे कटाछनि कै रही।
डोली न आँखिन आँखि लगाइ अचानक आँखिन को सरु कै रही।
ऐहो बड़ी बड़ी आँखिनवारी निहारि की आँखिन मैं थरु कै रही।
ना खिन आँखिन तें निकर्यौ अब प्यारे की आँखिन मैं घरु कै रही ॥२३॥

बड़ी-बड़ी आखों वाली नायिका के रूप तथा रूप-प्रभाव का यहाँ पर चित्रण किया गया है।

राधिका सी सुर सिद्ध सुता नर नाग नाग सुता कवि देव न भू पर।
चंद करौ मुख देखि निछावर केहरि कोटि लटी कटिहू पर।
काम कमानहू को भृकुटीन पै मीन मृगीनहू को दृग दू पर।
वारौ री कंचन कंज कली पिकबैनी के ओछे उरोजन ऊपर।।२४।।

इस छंद में राधिका की कमनीयता का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध उपमानों की व्यर्थता बतलाई गई है। उसके मुख, कटि, भृकुटि, नेत्र और उरोजों पर क्रमशः चन्द्र, केहरि, काम-कमान, मीन-मृग और कंचन-कंजकलिका निछावर की गई हैं। अलंकार—प्रतीप।

कुंजनि के कोरे मनु केलि रस खोरे लाल
तालनि के खोरे बाल आवति है नित को।
अमृत निचोरे कल बोलत निहोरे नैक
सखिनि के डोरे देव डोले जित तित को।
थोरे थोरे जोवन बिथोरे देति रूपरासि
गोरे मुख भोरे हँसि जोरे लेत हित को।
तोरे लेति रति दुति, भोरे लेति मति गति
छोरे लेति लोकलाज, चोरे लेति चित को।।२५।।

कोरे—अंक में, गोद में। खोरे—नहाये हुए। कल—सुंदर। निहारे—प्रार्थना करते हुए। नेक—थोड़ा सा। हित—प्रेम। भोरे—भुलाये हुए या भुलाना। अलंकार—कारक दीपक। इस छंद में राधाकृष्ण के कुंज-मिलन का वर्णन हुआ है।

प्रणय

मोही मैं वे किधौं उनही मैं कि हौं अरु वे इस संग बसेई।
बाहरि भीतर मोहो मैं देख्यौ दसौ दिसहू मैं चितौति ठएई।
काहे की लाज लजाए री को अब गोकुल गेह सनेह पगेई।
देख्यौ सुन्यौ नहिं दूसरौ देव जितै जित जाऊँ तितै तित वेई ।।२६।।

गोपिका की कृष्ण के प्रेम में मग्नता देखने योग्य है। वह अपने आपको कृष्ण से निरन्तर एकमेक समझ रही है। अपने आपको प्रिय में और अपने अन्दर प्रिय को वह निरन्तर देखती रहती है। भीतर-बाहर सर्वत्र उसे प्रिय की ही प्रतीति होती रहती है और जैसे रूपगुण वाला उसका प्रिय कृष्ण है वैसे रूपगुण वाला दूसरा व्यक्ति उसे कहीं दिखाई नहीं देता।

माखन सो मन दूध-सो जोबन है दधि ते अधिकै उर ईठी।
जा छवि आगे छपाकर छाँछ बिलोकि सुधा बसुधा सब सीठी।
नैनन नेह चुवै कहि देव बुझावति बैन बियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहो! कहो क्यों न लगै मनमोहनै मीठी ।।२७।।

अहीरिन की नानाविध प्रियता और मधुरता का कथन करते हुए उसके मन, यौवन, रूप, वचन, नेत्रों की स्निग्धता और रसीलेपन को ही कृष्णप्रिय होने कारण बताया है। ईठी—इष्ट, प्रिय। छाँछ—मठा। सीठी—फीकी, निस्सार। अलंकार—उपमा, प्रतीप।

कान भुराई पै कान न आनति आनन आन कथा न कढ़ी है।
एकहि रंग रँगी नख ते सिख एकहि संग बिवेक बढ़ी है।
देखिए देव जबै तब ज्यों ही त्यों दूसरी पद्धतियै न पढ़ी है।
को बिरचै कुल-कानि अचै मन के निहचै हिय चैन चढ़ी है ।।२८।।

गोपिका की एकनिष्ठ प्रीति पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। वह किसी के बहकाने में नहीं आती, मुँह से प्रिय की चर्चा के सिवा दूसरी चर्चा नहीं करती और कुलकानि को पीकर मन के दृढ़ निश्चय के साथ अपने अन्दर-ही-अन्दर प्रिय के प्रेम में डूबी हुई है। वही घन आनन्द वाली स्थिति है—"घन आनँद प्यारे सुजान सुनौ इहाँ एक तें दूसरो आँक नहीं।"

मैं सुनी काल्हि परौं लगि सासुरे साँचेहू जैहौ कहौ सखि सोऊ।
देव कहै केहि भाँति मिलै जानै को काहि कहा कब कोऊ।
खेलि तो लेहु भटू सँग स्याम के आजु ही की निसि आये हैं ओऊ।
हौं अपने दृग मूँदति हौं धरि धाइ के धाय दुरौ तुम दोऊ ॥२९॥

सखी की सखी के प्रति सहृदयता देखने योग्य है। इस छंद में उद्भावना की नवता देखने योग्य है। खेल चोर-मिट्टी-चनी का है। एक गोपिका अपनी परम प्रिय दूसरी गोपिका को कृष्ण से मिलने का अवसर दे रही है। वह उसके चित्त की गाढ़ प्रीति से परिचित है इसलिए उसके परितोष का उसे विशेष ध्यान है।

नेह सों नीचे निहारि निहोरत नाहीं कै नाह की ओर चितैबो।
पीठ दै मोरि मरोरि कै दीठि सकोरि कै सौंह सों भौंह चढ़ैबो।
प्रीतम सों कवि देव रिसाइ कै पाइ लगाइ हियै सों लगैबो।
तेरो री मोहि महा सुख देत सुधारस हू तें रसीलो रिसैबो ॥३०॥

इस छंद में क्रोध जतला कर मान प्रदर्शित करने वाली नायिका के प्रति चाटुकारिता-भरी बातें करने वाले नायक का चित्रण किया गया है। नायक कहता है—हे नायिके! तेरा रोष करना मुझे अमृत रस से भी अधिक रसीला लगता है।

बँसुरी सुनि देखन दौरि चली जमुनाजल के मिस बेग तबै।
कवि देव सखी के सँकोचन सों करि ऊढ़ सु औसर को बितबै।
वृषभानु कुमारी मुरारी की ओर बिलोचनि कोरनि सों चितबै।
चलिबे को धरै न करै मन नैंक धरै फिरि फेरि भरै रितबै ॥३१॥

प्रेम है जो मानता नहीं। ऊढ़ा (विवाहिता किन्तु परानुरक्ता) बाँसुरी की आवाज सुनकर पानी भरने के बहाने यमुना-तट पर पहुँच जाती है और कृष्ण को अपने अपांगों से रह-रहकर देख लेती है। नदी में पानी भरने का काम तो कुछ बहुत समय का होता नहीं, और कृष्ण को देख वह इतनी जल्दी वहाँ से जाना भी नहीं चाहती। पर अन्य सखियों की उपस्थिति में वह वहाँ अकारण अधिक देर तक ठहर भी तो नहीं सकती। ऐसी स्थिति में वह बार-बार अपने घड़े को भरती है और बार-बार ढरका देती है। उसकी यह क्रिया उसकी विदग्धता को व्यक्त किये बिना नहीं रहती। इसमें उसका प्रणय, आकर्षण और सम्मोहन सभी-कुछ झलका पड़ता है।

हार बिहार मैं टूटि परे अरु भूषन छूटि परे हैं समूलनि।
जोरि सबै पहिरायौ सम्हारि के अंग सम्हारि सुधारि दुकूलनि।
सीतल सेज बिछाइ कै बालम बाल मृनालनि के दल मूलनि।
वैसिये बेनी बनाइ लला गहि गूँथ्यौ गोपाल गुलाव के फूलनि ॥३२॥

विहारोपरान्त नायक कितनी चिन्ता के साथ नायिका का शृंगार ठीक कर रहा है। इससे उसके प्रणय और सुरुचि दोनों का पता चलता है। समूलनि—जड़-सहित, सब-के-सब। दुकूलनि—वस्त्रों को। दल—पत्ते। मूलनि—जड़ें। निरलंकृत शैली में कैसी सुन्दर भावाभिव्यक्ति हो सकती है यह छंद इस वैशिष्ट्य का उदाहरण है।

मेरेहू अंक जो आवै निसंक तौ हौं उनके परजंकहि जैहौं।
पान खवाइ उन्हें पहिले तब नाथ के हाथ के पाननि खैहौं।
ऐसी न होइ जो देह की दीपति देव को दीप समीप दिखैहौं।
मोहन को मुख चूमि भटू तब हौं अपनो मुख चूमन दैहौं ॥३३॥

इस प्रकार की वचनावली एक सुनिश्चत मनोभूमि की अपेक्षा रखती है। यह प्रगल्भ-वचना स्वाभिमानिनी भी है, अनुरक्त भी है और मनोभाव-चालित भी है।

बाल वधू के बिचार यही जु गोपाल की ओर बिलोकिबो कीजै ।
त्यों चितवै चित चातुरी सों रुचि की रचना वचनामृत पीजै ।
भूषन भेष बनावै सबै अरु केसर के रँग सों अँग भींजै ।
आपनें आगे औ पाछें तिरीछें ह्वै देह को देखि सनेह सों भीजै ।।३४।।

इस छंद में ऐसी अल्पवयस्का नायिका का वर्णन है जिसमें मनोभाव का संचार हो चला है—जो गोपाल की ओर कुछ आकर्षक दृष्टि से देखने लगी हैं तथा जिसे उनकी बातों में रस आने लगा है; जो सचेत भाव से अपने वस्त्राभूषण धारण करने लगी है और शरीर को सुगंधियों से आलेपित करने लगी है तथा जो आगे-पीछे अपने शरीर को देखकर ईषत् गर्व से सिक्त भी होने लगी है ।

गोकुल गाँव की गोपसुता कवि देव न केतिक कौतिक ठानै ।
खेलत मोही पै नंद कुमार री बारहि बार बड़ाई बखानै ।
मोरियै छातो छुवै छिपि कै मुख चूमि कहै कोइ और न जानै ।
काहे ते भाई कछू दिन तें मन मोहन को मन मोही सों मान ।।३५।।

नवोढ़ा नायिका की इन उक्तियों में उसका निर्विकार भोलापन झाँक रहा है । उसको मोहन के इस आचरण पर रोष नहीं, गर्व का अनुभव हो रहा है । बहुसंख्यक गोपियों के बीच वह अपने को विशिष्ट समझने लगी है । पर ऐसा क्यों है, इसका उसे बोध नहीं है । इन पंक्तियों में उस अल्पवयस्का की व्यामोहक निरीहता के दर्शन होते हैं ।

रूठि रही दिन द्वैक तें भामिनी मानी नहीं हरि हारे मनाइ कै ।
एक दिना कहुँ कारी अँध्यारी घटा घिरि आई घनी घहराइ कै ।
और चहूँ पिक चातक मोर के सोर सुनी सु उठी अकुलाइ कै ।
भेंटी भटू उठि भावते को घन धोखे ही धाम अँधेरे मैं धाइ कै ।।३६।।

इस छंद में प्रकृति की प्रेमोद्दीपकता वर्णित हुई है । द्वैक—दो-एक । भटू—सखी नायिका । भावते—प्रिय । मान का प्रसंग है । नाना उपायों और प्रिय के अनुनयों से जो बात न बनी, वह काली-काली घटाओं के घिर आने से संभव हो उठी ।

दामिनि ह्वै रहिये मन आवत मोहन को घन सो तन घेरे।
देव को देखिये री दिन रातिहू कोई करौ किन कोटि कटेरे।
स्याम की सुन्दरताई कहौं कछु होंहि जौ जीभ हजारक मेरे।
केवल वा मुख की सुषमा पर सौक ससी गहि वारि के फेरे ॥३७॥

श्याम के रूप पर गोपिका की रीझ का चित्रण है। केवल उनकी मुख-सुषमा पर ही सौ-सौ चंद्रमा निछावर किये जा सकते हैं। उनका सौंदर्य निरूपित कर सकने के लिए हज़ार जीभों की ज़रूरत है। रात-दिन उनके शरीर को देखते रहने की और उनसे घिरे रहने की दुर्निवार ललक नायिका को बेकल किये हुए है। अलंकार—प्रतीप।

पहिले सतराइ रिसाइ सखी जदुराइ पै पाइ गहाइये तो।
फिरि भेंटि भटू भरि अंक निसंक बड़े खन लौं उर लाइये तो।
अपने दुख औरनि को उपहास सबै कवि देव बताइये तो।
घनस्यामहि नेकहु एक घरी को इहाँ लगि जौ करि पाइये तो ॥३८॥

बहुत से अभिलाष रखने वाली गोपिका को एक सखी उसके मनोरथों को पूर्ण करने के लिए उत्साहित कर रही है।

सुन्दरता सुनि देव दुहूँ के रहे गुन सों गुहि कै मन मोती।
लागे हैं देखिबे को दिन-रात गिने गुरुहू नहिं सौ किन गोती।
देह दुहूँ की दहै बिनु देखे सु देखि दसा निसि सोवत कोती।
होती कहा हरि राधिका सों कहूँ नैकौ दई पहचान जो होती ॥३९॥

यहाँ पर केवल गुण-श्रवण पर ही आधारित प्रेमोदय का वर्णन हुआ है। सखियाँ इसी बात पर तो इतनी आश्चर्यचकित हैं कि बिना जान-पहचान के जब इतना उत्कट प्रेम है, यदि कहीं पूर्व परिचय-जन्य प्रेम होता तो कितनी तीव्रता होती !

वे बड़ भाग भरे अनुराग इतै अति भाग सुहाग भरी हौ।
देखौ विचारि समौ मुख को तन जोवन जोतिन सों उजरी हौ।
बालम सौं उठि बोलौ बलाइ ल्यों जो कहि देव सयानी खरी हौ।
हेरत बाट कपाट लगे हरि बाट परी तुम खाट परी हौ ॥४०॥

रुष्ट हुई नायिका को दूती तरह-तरह से समझा रही है। उसकी विवेक-शक्ति का आवाहन भी कर रही है, कृष्ण की आतुरता का भी कथन कर रही है और उसे हल्की-सी फटकार भी सुना रही है।

सपने मैं गई देखन हौं सुनि नाचत नंद जसोमति को नट।
वा मुसक्याइ कै भाव बताइ कै मेरोई खैंचि खरो पकरो पट।
तौ लगि गाइ रम्हाइ उठी कवि देव बधून मथ्यो दधि को घट।
जागि परी तब कान्ह कहूँ न कदंब कौ कुंज न कालिंदी को तट ॥४१॥

इस छंद में वर्णित स्वप्न ब्राह्ममुहूर्त्त का है, रात्रि के अंतिम प्रहर का। प्रसंग भी बहुत मधुर है परन्तु हा दुर्दैव,-नींद खुल जाती है, प्रसंग-माधुर्य खण्डित हो जाता है। स्वप्न-संदर्भ को लेकर देव ने एक-से-एक अच्छे छंद लिखे हैं।

औरो कहा कोउ बालवधू है नयो तन जोवन तोहि जनायौ।
तेरेई नैन बड़े ब्रज में जिनसों बस कीनो जसोमति जायौ।
डोलत है मनो मोल लियौ कवि देव न बोलत बोल बुलायौ।
मोहन को मन मानिक सो गुन सों गुहि तैं उर सों उरझायौ ॥४२॥

वह राधिका ही है जिसके बड़े-बड़े नेत्रों ने कृष्ण को वश में कर लिया है। यह सिफत किसी और में नहीं है—

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान॥ (बिहारी)

अलंकार—उपमा।

चित दै चितऊँ जित ओर सखी तित नन्दकिसोर की ओर ठई ।
दसहूँ दिसि दूसरो देखति ना छवि मोहन की छिति माँह छई ।
कवि देव कहाँ लौं कछू कहिये प्रतिमूरति हौं उनही की भई ।
ब्रजवासिन को ब्रज जानि परै न भयो ब्रज री ब्रजराज मई ।।४३।।

जित—जिस । तित—उस । ठई—देखती हूँ । छिति—क्षिति, पृथ्वी । छई-छायी हुई ।

जाने न कोई जनायो न कान्ह सों जानि गए जिय मैं जन ही जन ।
मोरती नाक मरोरती भौंह हिलोरत तोरती हौ तन ही तन ।
आनंद लूटि कै ओट दै बैठी हौ देव सखी विछुरी वन ही वन ।
भोरे तें भौन के कोन गहे सुस्क्याती हौ मौन गहे मन ही मन ।।४४।।

संयोग के सुख के अनंतर उसकी स्मृतियों में डूबी हुई खिन्न और उदास नायिका का चित्र है । सुस्क्याती का अर्थ है सिसकती हुई ।

संग ना सहेली केलि करत अकेली एक,
कोमल नवेली वर वेली जैसी हेम की ।
लालच भरे से लखि लाल चलि आए सोचि,
लोचन लचाय रही रासि कुल नेम की ।
देव मुरझाइ उरमाल उरझाइ कह्यो,
दीजो सुरझाइ बात पूछी छल छेम की ।
भायक सुभाय भोरे स्याम के समीप आय,
गाँठिहि छड़ाइ गाँठि पारि गई प्रेम की ।।४५।।

हेम—स्वर्ण । लचाय—नवाकर, नमित करके । उरझाइ—उलझा करके । पारि गई—डाल गई । लज्जाशीला गोपवधू को देखकर कृष्ण उसके पास जाते हैं । किसी बहाने से उससे बातचीत करते हैं । वह सलज्ज तरुणी उनका कहा एक छोटा-सा काम तो कर देती है पर उनका मन भी मोहे बिना नहीं रहती ।

चंदन हूँ चंद हूँ सो उंदन की चाँदनी सों,
चाँदी से चँदोवा हूँ सों घोर घरकत री।
फूली मलै मल्लिन हूँ मालती की बल्लिन,
इलायची लवंग अंग अंग फरकत री।
बीना वर बानी सुनि प्रेम की कहानी कौन
दसा हौं न जानी स्वाँस पौन सरकत री।
बड़ो अँखियानि सखियानि तें दिखायो देव
सोई अब मेरी अँखियानि खरकत री ॥४६॥

इस छंद में सुरम्य प्राकृतिक परिवेश की प्रेमोद्दीपकता का वर्णन हुआ है।

आँखिन में पुतरी ह्वै रहै हियरा में हरा ह्वै सबै सुख लूटै।
अंगन संग बसै अँगराग ह्वै जीव तें जीवन मूरि न फूटै।
देव जू प्यारे के न्यारे न री गुन मो मन मानिक तें नहिं टूटै।
और तिया सो ततो बतिया करैं मो छतिया सों छिनौ जब छूटै ॥४७॥

प्रिय जिसके आधीन है, अंग-अंग और रोम-रोम में बस रहा है—आँखों में पुतली, हृदय पर हार, अंग-अंग से लिपटे अंगराग के समान नायिका की पूरी सत्ता पर छाया हुआ है, उस नायिका की उल्लासमयी मनोदशा का चित्र इस छंद में अंकित हुआ है। प्रिय के ऐसे गुणों पर गर्व करने वाली यह गुणगर्विता नायिका का चित्र है।

गौने के चार चली दुलही गुरु लोगनि भूपन भेप बनाये।
सील सयान सिखायो सखीन सबै सुख सासुरेहू के सुनाये।
बोलिये बोल सदा हँसि कोमल जे मनभावन के मन भाये।
यों सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आये ॥४८॥

देव के 'रसविलास' में यह छंद मुग्धा नवल अनंगा नायिका के उदाहरण के रूप में आया है। पति के घर जाती हुई कन्या को माता, सहेलियाँ आदि प्रिय के घर आचरण की विधि का उपदेश करती हैं तथा जब उसके प्रिय को भाने वाली भाषा बोलने की बात कहती हैं तो उसके हृदय में संचित प्रीति उद्रिक्त हो उठती है।

आजु गई हुती कुंजन लौं बरसै उत बुन्द घने घन घोरत।
देव कहै हरि भींजत देखि अचानक आइ गये चित चोरत।
पोटि भटू तट ओट कुटी के लपेटि पटी सो कटी पट छोरत।
चौगुनौ रंग चढ़्यौ चित्त मैं चुनरी के चुचात लला के निचोरत ॥४९॥

वर्षा में अकस्मात् प्रिय मिलन का जो सुख है उसे प्रणयिनी मुग्धभाव से वर्णित कर रही है।

काहू की बंक चितैबे की संक न लागे कलंक बिसे किन बीसौं।
वा ठकुराइनि की अब देव बिरंचि रची रुचि रावरे जी सौं।
दैहौं मिलाई तुमैं हों तुम्हारिये आन करौ वृषभानलली सौं।
बाह्मन की सौं, बबा की सौं मोहन, मोहि गऊ की सौं, गोरस की सौं ॥५०॥

यहाँ पर दूती या सखी राधिका की ओर से भेजी गई है। वह राधिका के मनोभावों को कृष्णा पर ज्ञापित कर रही है और एक प्रकार से राधिका का प्रणय-संदेश ही लेकर आयी हुई है। वह अपनी प्रीति, भक्ति और निष्ठा कृष्ण के प्रति भी दिखा रही है—कृष्ण के सम्मोहक प्रभाव के कारण अथवा राधिका की दासी होने के कारण। छंद के अन्तिम चरण में बड़ी स्वाभाविकता और मार्मिकता है।

बैठी बहू गुरुलोगनि में लखि लाल गये करि के कलु ओल्यौ।
ना चितई न भई तिय चंचल देव इतै न उतै चित डोल्यौ।
चातुर आतुर जानि उन्हें छल ही छल चाहि सखीन सों बोल्यौ।
त्योंही निसंक मयंकमुखी दृग मूँदि कै घूँघट कौ पट खोल्यौ ॥५१॥

ओल्यौ—परदा, भेद, गुप्त बात। चाहि—देखकर। यहाँ सारी बातें इशारों-ही-इशारों में की और कराई गई हैं। छंद के अन्तिम चरण में नायिका की मुद्रा का सुन्दर चित्रण है। इसमें सूक्ष्म अलंकार की स्थिति है।

देखिबे को जिनको दिन राति रहैं उर मैं अति आतुर ह्वै हरि।
कोटि उपाइन पाइये जे न रहे जिनके बिरहज्वर सों जरि।
पार न पैयतु आनँद कौ तिनि आनि भटू उठि भेंटे भुजा भरि।
जानि परै नहिं देव दया बिष देत मिलो बिषया जु मया करि ।।५२।।

जिसे देखने को हरि रात दिन व्याकुल रहा करते थे और विविध उपाय करके भी जिसे प्राप्त नहीं कर पाते थे और विरह-ज्वर से जलते रहते थे, उसी प्रिया ने जब अनायास ही आकर उन्हें भुजाओं में भर लिया तो उन्हें अपरिसीम आनंद की प्राप्ति हुई परन्तु यह पता नहीं चला कि उसने यह दया क्यों की? इस आचरण में कहीं कोई विष तो नहीं मिला हुआ था? कहीं कोई अन्य प्रयोजन तो निहित नहीं था? अलंकार—निदर्शना।

ऐसी गुनी गरे लागत ही न रहै तन मैं सनताप री एकौ।
देव महारस बास निवास वड़ौ सुख वा उर बास किये कौ।
रूप निदान अनूप विधान सु प्राननि कौ फल जासौ जिये कौ।
सोचे हूँ है सखी नन्दकुमार कुमार नहीं यह हार हिये कौ ।।५३।।

यहाँ पर कृष्ण के और हृदयहार के गुण एक से बताये गये हैं। हार या गजरा या मणिमाल या मौक्तिक दाम में जो-जो सिफत है, उन सबका आरोप श्रीकृष्ण पर किया गया है। अलंकार—श्लेष और अपह्नुति।

आली झुलावति झूँकनि सों झुकि जाति कटी झननाति झकोरे।
चंचल अंचल की चपला, चल बेनी बड़ी सो गड़ी चित चोरे।
या विधि झूलत देखि गयौ तब ते कवि 'देव' सनेह के जोरे।
झूलत है हियरा हरि कौ हिय माहँ तिहारे हरा के हिंडोरे ।।५४।।

झूँकनिसों—झोंके से, झोंका देकर। कटी—कमर। झननाति—करधनी का अनुरणन। यहाँ नायिका के झूला झूलने का वर्णन है। नायिका की झूला झूलती हुई छवि नायक के हृदय में झूल रही है और वह- रागरंजित हो रहा है। सानुप्रासिक पदावली और अनुरणनात्मक वर्ण-विधान हिंडोला झूलने का दृश्य उपस्थित करने में सहायक है।

लोग लुगाइन होरी लगाई मिलामिलो चारु न मेटत ही बन्यौ।
देव जू चंदन चूर कपूर लिलारन लै लै लपेटत ही बन्यौ।
ये इहि औसर आए इहाँ समुहाइ हियौ न समेटत ही बन्यौ।
कीनी अनाकनि औ मुख मोरि पै जोरि भुजा भटू भेंटत ही बन्यौ।।५५।।

लुगाइन—स्त्रियाँ। लिलारन—मस्तक पर। समुहाइ—सामने होकर। अनाकनि—आनाकानी, निषेध। यहाँ पर होली या फाग के उन्माद का वर्णन है।

ऐश्वर्य

चाँदनी महल बैठी चाँदनी के कौतुक को,
चाँदनी सी राधा-छबि चाँदनो बिसालरैं।
चद की कला-सी देव दासी संग फूली फिरैं,
फूल-से दुकूल पैन्हे फूलन की मालरैं।
छूटत फुहारे वै बिमल जल झलकत,
चमकैं चँदोवा मनि-मानिक महालरैं।
बीच जरतारन की, हीरन के हारन की,
जगमगी जोतिन की मोतिन की झालरैं ॥५६॥

उज्ज्वल रुपहले भवन में राधिका की सखियों के संग की धवल शोभा तथा प्रासाद के फव्वारों, चाँदनी, झालरों और जरतार तथा हीरक-हारों और जगमगाती हुई ज्योति और मौक्तिक शृंगार का ऐश्वर्यपूर्ण वर्णन किया गया है। यह वर्णन मुगलकालीन शाहों और रईसों के ऐश्वर्य और वैभव का अच्छा परिचायक है।

उज्ज्वल अखंड खंड सातयें महल महा
मंडल चौबारी चंद्र मंडल के चोटही।
भीतर छू लालन के जालन बिसाल जोति
बाहिर जुन्हाई जगी जोतिन के जोट ही।
बरनत बानी चौर ढारत भवानी कर
जोरे रमारानी ठाढ़ी रमन के ओट ही।
देव दिगपालनि की देवीं सुखदाइनि ते
राधा ठकुराइनि के पाइनि पलोटही ॥५७॥

यहाँ पर राधिका के असामान्य ऐश्वर्य के साथ ही साथ उनके असाधारण महत्त्व का भी वर्णन हुआ है। सात खंडों का महल, महल में मणियों की ज्योति, उसके बीच सरस्वती, पार्वती और लक्ष्मी की साक्षात् विद्यमानता में दिग्पालों की स्त्रियाँ स्वामिनी राधा के पैर दबाती हैं। सरस्वती यश-कीर्तन करती है, पार्वती चँवर ढालती हैं और लक्ष्मी करबद्ध खड़ी रहती हैं।

पावरन पाँवड़े परे हैं पुर पौरि लगि
धाम धाम धूपन के धूम धुनियत हैं।
कस्तूरी अतर सार चोवा रस घनसार
दीपक हजारन अँध्यार लुनियत हैं।
मधुर मृदंग राग रंग की तरंगनि में
अंग अंग गोपिन के गुन गुलियत हैं।
देव सुख साज महाराज बृजराज आज
राधा जू के सदन सिधारे सुनियत हैं ॥५८॥

कृष्ण के आगमन पर राधा के भवन की सजावट और शोभा के ऐश्वर्य और वैभव का चित्रण किया गया है। स्वागत के पाँवड़, नाना प्रकार की सुगन्धियाँ, दीपकों के प्रकाश, तरह-तरह के वाद्ययंत्रों का सम्मिलित नाद और कृष्ण की गुणावली का गान आदि वर्णित हुए हैं।

बाल को न्योति बुलाइबे को बरसाने लौं हौं पठई नँदरानी।
श्री बृषभानु की संपति देखि थकी गति औ मति औ अति बानी।
भूलि परी मनि मंदिर में प्रतिबिंबन देखि बिसेस भुलानी।
चारि घरी लौ चितौत चितौत मरू करि चंदमुखी पहिचानी ॥५६॥

वृषभानु की संपदा और ऐश्वर्य का वर्णन है। उनके भवनों में इतना वैभव और ऐश्वर्य है, ऐसी प्रभा और जगमगाहट है कि देखने वाली की दृष्टि चकाचौंध हो जाती है। मणियों के मंदिर में प्रतिबिंब-ही-प्रतिबिंब हैं जो देखते ही बनते हैं। वर्णन का चमत्कार यह है कि मणि-मंदिर में खड़ी हुई चंद्रमुखी तो वहाँ जल्दी मिलती ही नहीं—पहचानी ही नहीं जा पाती—इतना मतिभ्रमकारी ऐश्वर्य है।

विरह

कंत बिन बासर बसंत लागे ग्रंतक से,
तीर ऐसे त्रिविध समीर लागे लहकन।
सान धरे सार-से चंदन घनसार लागे
खेद लागे खरे, मृगमद लागे महकन।
फाँसी-से फुलेल लागे, गाँसी से गुलाब ग्ररु
गाज ग्ररगजा लागे चोवा लागे चहकन।
ग्रंग-ग्रंग ग्रागि ऐसे केसरि के नीर लागे
चीर लागे जरन, ग्रबीर लागे दहकन ।।६०।।

ग्रन्तक—काल। सार—लोहा, भाला, बरछी। घनसार—कपूर। मृगमद—कस्तूरी। फुलेल—गुलाबजल। गाँसी—गाँठ, हथियार की नोक जैसे तीर या बरछे की। गाज—बिजली। ग्ररगजा—चंदन, कपूर ग्रादि पदार्थों के योग से बना हुग्रा सुगंधित लेप। प्रिय के विरह में ऋतु, प्रकृति, वस्त्र तथा सौंदर्य-प्रसाधनादि किस प्रकार दाहक हो उठते हैं, यही इस छन्द का मूल कथ्य है।

बरुनी बघंबर में गूदरी पलक दोऊ
कोए राते बसन भगौहैं भेष रखियाँ।
बूड़ी जल ही में, दिन-जामिनी हूँ जागैं भौहैं
घूम सिर छायौ बिरहानल बिलखियाँ।
ग्रँसुवा फटिक-माल लाल डोरी-सेल्ही पैन्हि
भई हैं ग्रकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरस 'देव' कीजिए सँजोगिन ए
जोगिनि ह्वै बैठी हैं बियोगिनि की ग्रँखियाँ ।।६१।।

बघंबर—बाघ का चमड़ा जिसे योगी आसन के काम में लाते हैं। कोए—आँख के दोनों कोने। राते—लाल। भगौहैं—भगवा रंग। सेल्ही—योगियों का वस्त्र। वियोगिनी की आँखों की दशा का निर्वचन करने के लिए योगिनी का पूरा रूपक खड़ा किया गया है। काव्य की दृष्टि से छंद उत्कृष्ट और कलात्मक है। इस छंद में शिल्पगत वैशिष्ट्य होते हुए भी भावगत मार्मिकता अक्षुण्ण है। अलंकार—सांगरूपक।

बिरह के घाम ताई बाम तजि धाम धाई;
पाई प्रतिकूल कूल कालिंदी की लहरी।
याते न अन्हाई जरै जोवत जुन्हाई,
ताते चितै चहुँ ओर देव कहै यहै हहरी।
बारिज बरत बिन बारे वारि बारु बीच
बीच बीच बीचिका मरीचिका सी छहरी।
चंड मारुतंड के अखंड बिधु मंडल है,
कातिक की राति किधौं जेठ की दुपहरी ॥६२॥

ताई—तप्त हुई। जोवत—देखकर। हहरी—काँप गई। बरत—जलते हैं। बिन बारे—बिना जलाये हुए। वारु—बालू। बीचिका—तरंगें, लहरें। मरीचिका—किरणों का प्रकाश। छहरी—चमकी। यहाँ पर प्रकृति को उद्दीपन रूप में प्रस्तुत किया गया है। नायिका की विरहावस्था वर्णित हुई है। अलंकार—तृतीय चरण में विभावना और उपमा, चतुर्थ चरण में संदेह।

राधिका कान्ह को ध्यान धरैं तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यों अँसुवा बरसै बरसाने कौ पाती लिखै लिखि राधिकै ध्यावै।
राधे ह्वै जाइ तेही छिन देव सु प्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आपु ते आपु ही मैं उरझै सुरझै बिरझै समुझै समुझावै ॥६३॥

इस छंद में प्रेम की उस ऊँची दशा का चित्रण हुआ है जिस पर पहुँच कर प्रिय और प्रेमी का ऐक्य हो जाता है। बिहारी, विद्यापति आदि में भी इसी भाव की अभिव्यक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

पिय के ध्यान गही गही रही वही है नारि ।
आपु आपु ही आरसी लखि रीझत रिझवारि ।।
(बिहारी)

अनुखन माधव माधव सुमरइत सुन्दरि भेलि मधाई ।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई ।।
(विद्यापति)

जब तें कुँवर कान्ह रावरी, कलानिधान !
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी ।
तब ही तें देव देखी देवता सी हँसति सी,
रीझति सी, खीझति सी, रूठति रिसानी सी ।
छोही सी, छली सी, छीन लीनी सी, छकी सी छिन
जकी सी, टकी सी, लगी थकी थहरानी सी ।
बींधी सी, बँधी सी, विष बूड़ति बिमोहित सी,
बैठी बाल बकति, बिलोकति, बिकानी सी ।।६४।।

गुण श्रवण-जनित उत्कट प्रीति—पूर्वराग—का यह उत्तम उदाहरण है । रीतिकाल के कवि बहुत बार अनुभाव-योजना के ही बल पर छंद बाँध दिया करते थे । यह छंद इसी प्रकार के कवि-कौशल का प्रसिद्ध उदाहरण है । अलंकार—उपमा और कारकदीपक

साँसनि ही सौं समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयौ ढरि ।
तेज गयौ गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि ।
देव जियै मिलिबेही की आस कि आसहू पास अकास रह्यो भरि ।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियौ जु लियौ हरिजू हरि ।।६५।।

यहाँ पर चित्त हरण करने वाले कृष्ण की रूपमोहिनी से आहत गोपिका या राधा की दशा का चित्रण हुआ है । प्रणय-विकलता की यह विवृति अत्यन्त मार्मिक और उत्कृष्ट है ।

सुधाकर से मुख बानि सुधा मुसक्यानि सुधा बरसै रदपाँती ।
प्रवाल से पानि मृनाल भुजा कहि देव लता तन कोमल कांती ।
नदी त्रिवली कदली जुग जानु सरोज से नैन रहे रस माती ।
छिनौ भर ऐसी तिया बिछुरै छतिया सियराइ कहौ केहि भाँती ।।६६।।

यहाँ पर नायक की वियोग-व्यथा का चित्रण है। यह छंद रीति की प्रथा-पालन का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें विरह-व्यथा कम, नायिका की अंगचारुता के प्रति आसक्ति अधिक है। नायिका के रुचिर अंगों के प्रति आसक्ति कम सादृश्य-विधान अथवा अलंकार-विधान पर दृष्टि अधिक है। इस छंद के पीछे रागात्मक प्रेरणा न के बराबर है, अप्रस्तुतयोजना मात्र के सहारे छंद खड़ा करने की प्रवृत्ति ही प्रधान है। ऐसे छंद रीतिकाल में बहुत लिखे गए। रदपाँती—दंतपंक्ति। प्रवाल—मूँगा। मृनाल=कमल-नाल। त्रिवली—पेट के तीन बल। कदली—केला। जुग—दो। माती=मतवाले। छिनौ भर—एक क्षण के लिए भी। सियराइ—शीतल हो। अलंकार—उपमा।

देव कहै बिन कंत बसंत न जाहु कहूँ घर बैठि रहौंरी ।
हूक सिये पिक कूक सुने विष पुंज निकुंजनि गुंजति भौंरी
नूतन नूतन के वन वेषन देखन जाति तौ हौं दुरि दौरी ।
बौर बुरौ मति मानौ बलाइ ल्यों होहुँगी बौर निहारति बौरी ।।६७।।

वसंत ऋतु विरहणी के लिए कितनी उन्मादक होती है इसका यत्किंचित् बोध इस छंद से हुए बिना न रहेगा। बिना प्रिय के वह वन-प्रांत की वासन्ती शोभा क्या देखे! आम के बौर देखकर क्या वह बावली न हो जायेगी!

लाल बिदेस सु बालवधू बहु भाँति बरी बिरहानल ही मैं ।
लाज भरी गृहकाज करै कहि देव परै न कहूँ कल ही मैं ।
नाथ के हाथ के हेरि हरा हिय लागि गई हिलकी गल ही मैं ।
आँखिन के अँसुवा लखि लोग न लोलि लजीली लिये पल ही मैं ।।६८।।

यह छंद वियोग के सन्दर्भ का है। इसमें विरह जन्य विकलता के साथ-साथ पारिवारिक परिवेश-सुलभ लज्जा और संकोच का चित्रण है।

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानों,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन मैं।
आनि कह्यौ स्याम मो सौं 'चलौ झूलिबे को आज,
फूली ना समानो भई ऐसी हौं मगन मैं।
चाहत उठ्यौई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँग खोलि देखौं तौ न घन हैं, न घनस्याम,
वेई छाईं बूँदें मेरे आँसु ह्वै दृगन में ।।६९।।

इस छंद में स्वप्न-संयोग दिखाया गया है। जो सारे दिन चित्त में बसा हुआ है वह प्रिय रात में नायिका को स्वप्न में दर्शन देता है। स्वप्न में ही सही, प्रिय का मिलन प्रणयिनी के लिए क्या उन्मादकारी नहीं होता पर हाय रे दुर्भाग्य वह स्वप्न भी खंडित हो जाता है। विरहिणी का खंडित स्वप्न उसे अपरिसीम पीड़ा पहुँचाता है।

जाती हो जो उत वे जो मिलै कहूँ पावौ समौ कहिबे को ठिकाने।
ह्याँ की दसा तुम देखियै है कहियो समुझाइ जो पै जिय माने।
या मन की बिन पाये बिथा तिनकी कवि देव जू कौन बखानें।
ऐसी हितू हित की बिन और सु को इत की चित की गति जानें ।।७०।।

सखी के माध्यम से प्रिया प्रिय के पास अपनी दशा का समाचार भेज रही है। प्रिया (नायिका) की विरह-व्यथा बढ़ी हुई है और प्रिय दूर भी है और व्यस्त भी। सहेली बहुत अन्तरंग और विश्वसनीय है तथा नायिका की परम हितैषिणी भी।

राधे कही है कि तैं छमियो ब्रजनाथ जिते अपराध किये मैं।
कानन तानन भूलत ना खिन आँखिन रूप अनूप पिये मैं।
आपने ओछे हिये में दुराइ दयानिधि देव बसाय लिये मैं।
हौंही असाध बसी न कहूँ पल आध अगाध तिहारे हिये मैं ।।७१।।

इस छंद में राधिका का बहुत ही मार्मिक विरह-संदेश है और प्रेम की एकपक्षीयता पर गाढ़े विषाद की अभिव्यक्ति की गई है। प्रेम-वैधर्म्य का अभिव्यंजक यह एक प्रभावशाली छंद है।

जा दिन तें बृजनाथ भटू इह गोकुल में मथुराहि गये हैं।
छाकि रही तबतें छबि सो छिन छूटति ना छतिया में छये हैं।
वैसिय भाँति निहारति हौं हरि नाचति कालिंदी कूल ठये हैं।
शत्रु सँहारि के छत्र धर्‌यौ सिर देखति द्वारिकानाथ भये हैं ।।७२।।

स्मृति में निरंतर बसे हुए प्रिय का भावनामूलक चित्रण है। अलंकार—भाविक।

हौंही हौं और कि ये सब और कि डोलत आजु को औरै समीरौ।
याते इन्हें तन ताप सिरात पै मेरे हिये न थिरातु है धीरौ।
ये कहैं कोकिल कूक भली सु तौ कान सुनें जम आवत नीरौ।
लोग ससी को सराहत हैं तब ताहू लगै सखी साँचेहू सीरौ ।।७३।।

विरह में प्रकृति वियोग को बढ़ाती है। इस सुविज्ञात तथ्य को इस छंद में विरहिणी के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इसी तथ्य को बहुत संक्षेप में बिहारी इस प्रकार कह गए हैं—

हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाँव।
कहा जान ये कहत हैं ससिहि सीत कर नाँव।।

ऋतु और प्रकृति

डार द्रुम पलना, बिछौना नव पल्लव के
सुमन झँगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी कीर बहरावैं देव,
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै।
पूरित पराग सों उतारौ करै राई लोन,
कंजकली-नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै ॥७४॥

वसंत ऋतु का अलंकृत वर्णन है। वसंत को मदन महीप का बालक कहा गया है। बालक वसंत के जन्म पर उसका जिस प्रकार आदर-सत्कार किया जाता है, जिस प्रकार के लाड़-प्यार के साथ उसका पालन-पोषण किया जाता है उसका वर्णन सांगरूपक के माध्यम से किया गया है। वसंत-वर्णन-विषयक यह छंद समूचे नीतिकाव्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है। पृथ्वीराज की वेलि में भी इसी प्रकार का वसंत-वर्णन मिलता है।

उर सौं लगी ही बधू बिधुर अधर चूमि,
मधुर सुधान बातैं सुनिबे सुभाव की।
बोलि उठी कोकिला त्यौं काकलिनु कलित,
कलापिन की कूकैं कल कोमल बिराव की।
आइ गईं झूकैं मंद मारुत की 'देव' नव-
मल्लिका मिलित मल पदुम के दाव की।
ऊखली सुबासु गृह अखिल खिलन लागीं,
पलिका के आस-पास कलिका गुलाब की ॥७५॥

बिधुर—काँपता हुआ। काकलिनु—काकली से, कूक से। कलापिन—मयूरियों की। बिराव की—ऊँचा स्वर। पदुम के दाव—कमलवन। ऊखली—फैल गई। प्रात:काल का वर्णन है। संयोग की स्थिति है।

फूलि उठ्यौ बृन्दावन, भूलि उठे खग, मृग
सूलि उठे उर बिरहागि बगराई है।
गुंजरैं करत अलि-पुंज कुंज-कुंज धुनि,
मंजु पिक-पुंज नूत मंजरी सुहाई है।
बाल बनमाल फूल-माल बिकसंत बिह-
संत सुखी ब्रज मैं बसंत-ऋतु आई है।
नंद के नँदन ब्रजचंद को बदन देखे,
सदन-सदन 'देव' मदन-दुहाई है ॥७६॥

ब्रज में कृष्ण के संसर्ग से सदा ही बसंत बना रहता है। बृन्दावन प्रफुल्लित रहता है, पक्षि-समूह मुग्ध और उन्मत्त बना रहता है। कुंज-कुंज में भौंरे गुंजार करते रहते हैं और आम्र-मंजरियाँ (नूतमंजरी) मद-संचार करती रहती हैं।

केसरि किंसुक औ' बरना कचनारीन की रचना उर सूली।
सेवती देव गुलाब मलै मिलि मालती मल्लि मलिंदनि हूली।
चंपक दाड़िम नूत महा उर पाँडर डार डरावनि फूली।
या मयमंत बसंत मैं चाहत कंत चल्यौ हमहीं किधौं भूली ॥७७॥

किंसुक—टेसू। बरना—पुष्प विशेष। सेवती—सेवन्तिका पुष्प। मलै—दक्षिणी पवन। मल्लि—बेला। मलिंदनि—भौंरों ने। चंपक—चंपा। दाड़िम—अनार। नूत—नूतन या आम्र। पाँडर—पीली चमेली। प्रकृति की उद्दीपनता का चित्रण है। बसंत ऋतु का वर्णन है।

स्याम के संग सदा हम डोलैं जहाँ पिक बोलै अलीगन गुंजैं ।
छाहन माहँ उछाहनि सों छहरैं जहाँ पीरी पराग की पुंजैं ।
बोलिन मैं रस केलिन कै कवि देव करो चित की गति लुंजै ।
कालिंदी कूल महा अनुकूल तैं फूलति मंजुल बंजुल कुंजै ।।७८।।

उछाहनि सों—उत्साह से। छहरैं—फैलते हैं। लुंजैं—शिथिल पड़ जाती हैं। प्राकृतिक परिवेश यहाँ प्रणय के लिए अनुकूल बतलाया गया है। परिवेश वासन्ती प्रकृति का है।

आयौ बसंत लग्यौ बरसावन नैननि तें सरिता उमहै री ।
कौं लगि जीव छिपावै छपा मैं छपाकर की छबि छाइ रहै री ।
चंदन सों छिरकै छतियाँ अति आगि उठै दुख कौन सहै री ।
सीतल मंद सुगंध समीर बहै दिन दूगनि देह दहै री ।।७९।।

वसंत ऋतु विरहणी की व्यथा को नाना भाव से उद्दीप्त करती है। वासंती समीर, चंदन, चाँदनी सभी तो उसके विरहज्वर को तीव्रतर करते हैं। अलंकार—अतिशयोक्ति।

वेली नवेली लतानि सों केलि कै प्रात अन्हाइ सरोवर पावन ।
पिंजर मंजरिका छहराइ रजच्छत छाइ छपाइ छपावन ।
सीतल मंद सुगंध महा बपुरे बिरही बपुरीनि तपावन ।
आजु कौ आयौ समीर सखी री सरोज कँपाइ करेजौ कँपावन ।।८०।।

पिंजर—पीली। मंजरिका—मंजरी, बौर। छहराइ—छितरा कर, फैलाकर। छपाइ—छिपाकर। बपुरे—वेचारे। बपुरीनि—वेचारियों। कँपाइ—कँपाकर, कंपित करके। वासंती समीर की विरहोद्दीपकता का वर्णन है। अलंकार—रसवत।

होरी हरे हरे आइ गई हरि आए न हेरि हियो हहरैगी।
बानि बनी वन बागनि की कवि देव बिलोकि वियोग वरैगी।
नाँउ न लेहु वसंत कौ री सुनि हाय कहूँ पछिताय मरैगी।
कैसे कै जीहै किसोरी जो केसरि नीर सों बीर अबीर भरैगी।।८१।।

विरहिणी के लिए वसंत ऋतु और उसमें भी होली का पर्व विशेष रूप से पीड़ाप्रद होता है। वह तो अन्तःपुर में रहती है इतनी गनीमत है, अन्यथा वनों और उद्यानों की छवि देखकर वह दग्ध हो उठेगी। हे सखी! वसन्त का तो नाम भी मत लो! परन्तु यह सब चलेगा कब तक? उस दिन (होली को) जब सखियाँ केसर-नीर भरेंगी और अबीर खेलेंगी, उस प्रणयिनी की क्या दशा होगी!

फूले अनारन पाँडर डारन, देखत देव महाडरु माँचैं।
माधुरी झौरन अंब के वौरन भौंरन के गन मंत्र-से बाँचैं।
लागि उड़ै बिरहागिनि की कचनारन बीच अचानक आँचैं।
साँचे हुँकारि पुकारि पिकी कहैं नाचे वनैगी बसंत की पाँचैं।।८२।।

पाँडर—पीली चमेली। माधुरी—चमेली। झौरन—झुण्ड। इस छन्द में वसन्त का वर्णन है। अलंकार—द्वितीय चरण में उपमा।

आइ बसंत लग्यो बरसावन नैनन ते सरिता उमहै री।
कौ लगि जीव छमावै छपा मैं छपाकर की छबि छाई रहै री।
चंदन सों छिरके छतिया अति आग उठै उर कौन सहै री।
सीतल मंद सुगंध समीर वहै, दिन दूगुनी देह दहै री।।८३।।

वसन्त ऋतु में विरहिणी की दशा का वर्णन किया गया है। रजत-ज्योत्स्ना, चंदन, त्रिविध समीर आदि विरहिणी के शरीर को दुगना जला रहे हैं। प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण किया गया है।

माधुरी झौरनि फूलनि भौंरनि वौरनि-बौरनि बेलि बची है।
केसरि किसु कुसुम्भ कुरौ किरवार कनैंरनि रंग रची है।
फूले अनारनि चंपक-डारिन लै कचनारनि नेह तची है।
कोकिल रागनि नूत परागनि देखुरी, बागनि फागु मची है ।।८४।।

झौरनि—समूहों, गुच्छों में। किसु—किंशुक। कुरौ—कुरैया, एक जंगली वृक्ष जिसकी पत्तियाँ लंबी और लहरदार होती हैं। किरवार—अमलतास। तची—तप्त, गरम, तपी हुई। यह छन्द वसन्त ऋतु की प्रकृति का है जो अपनी नानावर्णी दीप्ति के कारण प्रकृति में फाग-क्रीड़ा या फाग के रंग का आभास करा रहा है। वसन्त में प्रकृति का उल्लासकारी रूप प्रत्यक्ष कराया गया है। अलंकार—अपह्नुति।

सँजोगिन की तू हरै उर-पीर बियोगिन के सँचरै उर-पीर।
कलीन खिलाइ करै मधु-पान, गलीन भरै मधुपान की भीर।
नचै मिलि बेलि वधूनि अचै सुरदेव नचावत आधि अधीर।
तिहूँ गुन देखिए दोष-भरो अरे सीतल मंद सुगन्ध समीर ।।८५।।

सँचरै—संचार करती है। मधुपान—मधुपों, भौंरों। अचै—पीती है। आधि—मानसिक रोग या व्यथा। इस छन्द में त्रिविध समीर को लेकर उक्ति की गई है। अलंकार—समासोक्ति, विरोधाभास और मानवीकरण।

प्यारी के प्रान समेत पिया परदेस पयान की बात चलावै।
देव जू छोभ समेत छपा छतिया मैं छपाकर की छवि छावै।
बोलि अली बन बीच वसन्त को मीचु समेत नगीच बतावै।
काम के तीर समेत समीर सरीर मैं लागत पीर बढ़ावै ।।८६।।

वियोग में प्रकृति किस कदर विरह-वर्धिनी होती है इसका वर्णन इस छन्द में किया गया है। छन्द के प्रत्येक चरण में सहोक्ति अलंकार है।

पावस प्रथम पिय ऐबे की अवधि सो जो,
आवत ही आवैं तो बुलाऊँ अति आदरनि ।
नाहीं तौ न हील होन दे री भील भावरनि,
ग्रीषम हो राखु खालो भाखु खल खादरनि ।
बीजुरी बरजु, कहु मेघ न गरजु,
इन गाजमारे मोर-मुख मोरि री निरादरनि ।
कंठ रोकि कोकिलानि, चोंच नोच चातकनि,
दूर करि दादुर, विदा करि री बादरनि ॥८७॥

यह बहुत ही सुन्दर छन्द है जिसमें विरहिणी वर्षा के उपकरणों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती दिखाई गई है । पति परदेश में है और वर्षा से पहले आने का वचन दे गया है । नायिका अपनी सखी से कहती है कि वर्षा से पूर्व यदि प्रिय आ जाये तो ताल-तलैया, बिजली-मेघ, मोर-कोकिला, चातक-दादुर आदि का स्वागत है, नहीं तो हे सखी, तू इन सबको वरज दे, इन्हें लहकने, बहकने और शोर मचाने की कोई जरूरत नहीं । प्रकृति का यह वर्णन भी उद्दीपन रूप में ही हुआ है । गोपिका अथवा विरहिणी की इन उक्तियों में गहरी आन्तरिकता और मार्मिकता के दर्शन होते हैं ।

सुनिकैं धुनि चातक मोरन की चहुँ ओरन कोकिल कूकनि सों ।
अनुराग-भरे हरि बागन में सखि रागनि राग अचूकनि सों ।
कवि 'देव' घटा उनई जुनई वन भूमि भई दल दूकनि सों ।
रँगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर के झूकनि सों ॥८८॥

यह प्रकृति-चित्रण-संबंधी छन्द है जिसमें वर्षा ऋतु का बहुत सजीव चित्रण हुआ है । ऊपरी दृष्टि से तो यह आलम्बन रूप में किया गया प्रकृति-चित्रण जान पड़ता है किन्तु छन्द का द्वितीय चरण बता रहा है कि दूती द्वारा कथित इन उक्तियों में प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण किया गया है ।

उतै तौ सघन घन घिरि कै गगन, इतै
बन-उपवन बने बनक बनाए हैं।
तैसेई उलहि आए अकुर हरित-पीत,
'देव' कहै बिबिध बटोहिन सुहाए हैं।
बोलैं इत मोर, उत गरजैं मधुर धुनि,
मानौ मैन-भूप जग जीति घर आए हैं।
अंबर बिराजै बर, अंबरन छाए छिति,
पीरे, हरे, लाल, ये जवाहर बिछाए हैं ।।८६।।

इस छन्द में वर्षा ऋतु का वर्णन किया गया है। तृतीय चरण की उत्प्रेक्षा द्वारा वर्ण्य को सजीव बनाने की चेष्टा की गई है।

सोग्वें सिन्धु सिधुर से, बंधुर ज्यौं बिंध्य गंध-
मादन के बन्धु से गरज गुरवानि के।
झमकारे झूमत, गगन घने घूमत,
पुकारे मुख चूमत पपीहा मोरवानि के।
नदी नद सागर डगर मिलि गए 'देव'
डगर न झूमत नगर पुरवानि के।
भारे जल-धरनि अँध्यारे धरनी-धरनि
धाराधर धावत धुमारे धुरवानि के ।।६०।।

वर्षा ऋतु के इस वर्णन में मेघों के घुमड़ने, गरजने, घूमने और झूमने, पृथ्वी के जलपूर्ण होने, मार्गों के असूझ या अदृश्य होने, पुरवैया के झकोरने आदि का दृश्य उपस्थित किया गया है। सिन्धुर—हाथी। बंधुर—झुका हुआ और नम्र। गंधमादन—श्माम वर्ण का एक पर्वत। गुरवानि—भारी। झमकारे—झमाझम बरसने वाले। मोरवानि—मोरों, मयूरों। डगर—रास्ता, मार्ग। मिलि गए—अदृश्य या असूझ हो गए। पुरवानि—छोटी बस्तियों के। अँध्यारे—काले। धरनी-धरनि—पहाड़ों के समान। धाराधर—मेघ। धुमारे—धुँए के रंग के। अलंकार—उपमा, अनुप्रास।

आस-पास पूरन प्रकास के पगार सूझैं,
बनन अगार डीठ गली ह्वै निबरते ।
पारावार पारद अपार दसौं दिसि बूड़ी,
बिधु बरम्हंड उतरात विधि बरते ।
सारद जुन्हाई जह्नु पूरन सरूप धाई,
जाई सुधा-सिंधु नभ सेत गिरिवर ते ।
उमड़ौ परतु जोति मंडल अखंड सुधा-
मंडल मही मैं इंदु-मंडल बिवरते ।।९१।।

पगार—घेरा, चहारदीवारी । अगार—घर, भवन । निबरते—निवृत्त होते, गुजर जाते । बिधु बरम्हंड—चंद्रमा-रूपी ब्रह्माण्ड । विधि बरते—विधाता के वरदान से । जह्नु—एक ऋषि । विवर—बिल, छिद्र । चन्द्रमा के रजत और अमृत प्रकाश से सम्पूर्ण सृष्टि उज्ज्वल हो उठी है । इस छन्द में शारदी ज्योत्स्ना के शुभ प्रकाश का स्वरूप अंकित हुआ है । अलंकार—रूपक ।

जागी न जुन्हैया यह आगी मदनज्वर की,
लागी लोक तीनो हियो हेरे हहरतु है ।
पारि परजारि जल जंतु जारि बारि बारि,
बारिधि ह्वै बाड़व पताल पसरतु है ।
धरनि तें धाइ झर फूटी नभ जाइ कहै,
देव जाहि जोवत जगत ज्यों जरतु है ।
तारे चिनगारे ऐसे चमकत चारौं ओर,
बैरी विधुमंडल भभूको सो बरतु है ।।९२।।

चन्द्रमा और चाँदनी विरहिणी को उद्विग्न कर रहे हैं । अतिशयोक्ति-पद्धति पर चलकर देव ने वियोगिनी के हृदय की सारी व्यथा को मूर्त्त करने की चेष्टा की है । यह पद्धति रीतिकाल में बहुत चली और आधुनिक काल तक चली आई । शंकर कवि के प्रसिद्ध छन्द **'शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की भाप बन अंबर में ऊँची चढ़ जायेगी'** की प्रेरणा देव-जैसे कवियों की ऐसी अतिशयमूलक उक्तियों में देखी जा सकती है । अलंकार—अपह्नुति और अतिशयोक्ति ।

वा चकई कौ भयौ चित चीतौ, चितौति चहूँदिसि चाय सौं नाची ।
ह्वै गई छीन छपाकर की छवि जामिनि जोन्ह मनो जम-जाँची ।
बोलत बैरी बिहंगम 'देव' सु बैरिन के घर संपति साँची ।
लोहू पियौ जु बियोगिनो कौ, सु कियौ मुख लाल पिसाचिनि प्राची ।।९३।।

यहाँ पर एक विरहिणी नायिका की मनोदशा का प्रकृति पर आरोपण किया गया है । यदि इसे प्रकृति-चित्रण का छन्द कहना चाहें तो कहना पड़ेगा कि इसमें भावारोप शैली पर प्रकृति-चित्रण हुआ अन्यथा यह उत्कट ईर्ष्या से दह्यमान प्रणयिनी का चित्रण है जिसका प्रिय कभी-कभी उसे धोखा भी दे देता है । चकई=वह पक्षिणी जिसका रात्रि में प्रिय से वियोग होता है और दिन में मिलन—'चकई निसि बिछुरी दिन मिला । हौं दिन रात विरह कोकिला ।।' चकई यहाँ पर प्रणयिनी को व्यंजित करने वाली प्रतीक-स्वरूपा है । छीन—क्षीण । छपाकर—चन्द्रमा । बैरिन—(प्रतीक) सौत । संपति साँची—(प्रतीक) प्रियतम । प्राची—पूर्व दिशा । अन्तिम चरण में अभिव्यक्त रोष और आक्रोश अत्यन्त प्रखर है ।

अरुनि उदोत सकरन ह्वै अरुन नैन,
तरुन-तरुन तन तूमत फिरत है ।
कुंज कुंज केलि कै नवेली बाल बेलनि सौं,
नायक पवन वन भूमत फिरत है ।
अंब-कुल बकुल समीड़ि पीड़ि पाड़रनि,
मल्लिकानि मीड़ि घन घूमत फिरत है ।
दुमन-दुमन दल दुमत मधुप 'देव',
सुमन-सुमन मुख चूमत फिरत है ।।९४।।

अरुण—सूर्य । सकरन—किरण सहित । तरुन तरुन—वृक्षों । तन—ओर । तूमत—लाल होकर । अंब-कुल—आम के वृक्षों का समूह । बकुल—मौलसिरी । समीड़ि—मीड़ या मसल कर । पीड़ि—दबाकर, पीड़ा देकर, दबोच-कर । पाड़रनि—पाढ़र नाम का एक पेड़, लाल लोध । मल्लिकानि—मोतिया, बेला । दुमत—हिलाता हुआ, झुलाता हुआ । अलंकार—मानवीकरण । वायु की प्रकृति से की जाने वाली अठखेलियों का वर्णन है । निराला की 'जुही की कली' का स्मरण कीजिए ।

रीति

जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहिं छोभ को छाहौ ।
मोह न जाहि रहै जग-बाहिर, मोल जवाहिर तौ अति चाहौ ।
बानी पुनीत ज्यौं देवधुनी रस आरद सारद के गुन गाहौ ।
सील-ससी, सविता-छविता, कविताहि रचै, कवि ताहि सराहौ ।।६५।।

इस छन्द में महाकवि के लक्षण बताए गए हैं । देव के अनुसार महाकवि को भी महानात्मा होना चाहिए । सामान्य इन्द्रियार्थों से ऊपर होना चाहिए । काम-क्रोध आदि दूषणों से मुक्त होना चाहिए । उसकी वाणी गंगा के समान पवित्र होनी चाहिए, रस-विगलित होनी चाहिए, उसे चन्द्रमा से शील या शीतलता वाला होना चाहिए, सूर्य-सा प्रभामय होना चाहिए । ऐसे ही कवि की कविता सराहनीय कही जा सकती है । अलंकार—उदाहरण, उपमा, यमक ।

'देव' सबै सुखदायक संपति, संपति कौ सुख दंपति जोरी ।
दंपति दीपति प्रेम-प्रतीत, प्रतीति की रीति सनेह-निचोरी ।
प्रीति जहाँ रस-रीति बिचार, 'बिचार' की बानी सुधारस बोरी ।
बानी कौ सार बखान्यौ सिंगार, सिंगार कौ सार किसोर-किसोरी ।।६६।।

इस छन्द में एकावली अलंकार के सहारे कवि एक पर एक उक्तियाँ बाँधता चला गया है । यह छन्द बहुत सुन्दर है और इसकी उक्तियाँ बहुत ही स्वाभाविक रूप से बँधती चली गई हैं । अंतिम चरण में पहुंचकर छन्द बहुत ही ललित हो उठा है और लालित्य के साथ-साथ देव की शृंगारप्रियता और राधाकृष्ण-प्रीति की अनन्यता भी झलके बिना नहीं रह सकी है—बानी कौ सार बखान्यौ सिंगार, सिंगार कौ सार किसोर-किसोरी ।

भोरही भौन मैं भावतो ग्रावत प्यारी चितै कै इतै दृग फेरे ।
बाल बिलोकि कै लाल कह्यौ रुहु काहे तें लाल बिलोचन तेरे ।
बोलि उठी सुनि कै तिय बोल सु देव कहै ग्रति कोप करेरे ।
काहू के रंग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे ।।९७।।

खंडिता के वर्णन में इस प्रकार की उक्तियों का विधान है । बिहारी के निम्नलिखित दोहे में यही भाव ग्रंकित हुग्रा है—

बाल कहा लाली भई, लोयन कोयन माहँ ।
लाल तिहारे दृगन की, परी दृगन मैं छाहँ ।।

(बिहारी)

मारग हेरति हौं कब को कहो काहे ते आये नहीं ग्रबहूँ हरि ।
ग्रावत हैं किधौं ऐहैं ग्रबै कवि देव कै राखे है काहू कछू करि ।
मोहूँ तें न्यारी को प्यारी गुपाल की हाय विचारिये री चित मैं धरि ।
जो रमनी रमनीय लगै बसि वाके रहै सजनी रजनी भरि ।।९८।।

प्रिय नायिका के प्रति परम ग्रनुरक्त है फिर भी वह ग्राया नहीं है । ज्यों-ज्यों उसके ग्राने में विलम्ब होता है नायिका की ग्रातुरता बढ़ती जाती है । उसकी चिन्ता पल-पल बढ़ती जाती है ग्रौर वह मन में तरह-तरह की ग्राशंकाएँ करने लगती है । उत्कंठिता नायिका है ।

घटा घहराति बिज्जु छटा छहराति ग्राधी
राति हहराति कोटि कीट रति रुंज लौं ।
हूकत उलूक बन कूकत फिरत फेरु
भूकत जु भैरौं भूत गावैं ग्रलि गुंज लौं ।
झिल्ली मुख मूँदि तहाँ बीछीगन गूँदि विष
व्यालनि को रूँदि कै मृनालनि के पुंज लौं ।
जाई वृषभान की कन्हाई के सनेह बस
ग्राई उठि ऐसे मैं ग्रकेली केलि कुंज लौं ।।९९।।

मदोन्मत्त हो सघन अँधेरी रात में वन-व्यालों और कीड़े-मकोड़ों और भयानक पशु-पक्षियों से डरे बिना जो प्रिय के पास निर्भीक भाव से अकेली ही पहुँचती है, वह सच्चे अर्थों में अभिसारिका है—जो घेरी मद मदन करि आपुहि पति पर जाइ।

घोरि घनी घनसार सों केसरि चंदन गारि कै अंग सम्हारै।
मोतिन माँग कै वार गुहै अरु हार गुहै बलि बेगि सँवारै।
देव कहै सब भेष बनाइ कै आइ कै फूलनि सेज सुधारै।
बैठी कहा उठि देखौ भटू हरि आवत हैं घर आज हमारै ॥१००॥

प्रिय के आगमन की खुशी में आत्म-सज्जा और सेज-सज्जा करने वाली वासकसज्जा नायिका का यहाँ पर चित्रण हुआ है।

मालिन ह्वै हरि माल गुहै चितवैं मुख चेरी भये चितचाइन।
पान खवावें खवासिन ह्वै कै सवासिन ह्वै सिखवैं सब भाइन।
बेंदी दै देव दिखाइ कै दर्पन जावक देत भए अब नाइन।
प्रेम पगे पिय पीत पटी पर प्यारी के पोंछि पसारी से पाँइन ॥१०१॥

इस छन्द में कृष्ण की उत्कट प्रियानुरक्ति का वर्णन है। नायिका स्वाधीना या स्वाधीनपतिका है। नायक उसके सारे काम करता है और नाना भाव से उसे प्रसन्न रखता है। वह उसके लिए मालिन, परिचारिका, खवासिन, सवासिन, नाइन आदि सभी कुछ तो है।

बालवधू के बिनोद बढ़ाइ भली विधि भूषन भेष बनावै।
चाइ सों चित्त प्रसन्न करै रस रंग मैं संग सयान सिखावै।
दै कै उराहनौ दोउन कौ मन राखि के देव दुहून मिलावै।
नाह सों नेह ततो निबहै जब भाग तें ऐसी सखी करि पावै ॥१०२॥

इस छन्द में उत्तम सखी के गुणों और लक्षणों का निरूपण किया गया है। जो नायिका का चित्त प्रसन्न करती रहे, उसकी वेशभूषा आदि से साज-सज्जा करती रहे, प्रणय के प्रसंगों में जो उसका मार्ग-दर्शन करती रहे तथा नायक के भी हृदय की बात जानकर दोनों के प्रणय-संबंधों को पुष्ट करती रहे, ऐसी सखी बड़े भाग्य से मिलती है।

देव जू की दूती वृषभान जू के भौन जाइ,
राधिका बुलाइ बहु बातनि खिलाइ कै।
हास रस सानी दुरि आँगन ते द्वार आनी
हित की कहानी कहि हिय सों मिलाइ कै।
हरे हँसि कह्यो कैसे सह्यो धौं परतु है
जैहैं नँदनंद तौ वियोग सी विलाइ कै।
बिरह बढ़ाइ प्रेम पद्धति पढ़ाइ चित
चोपहि चढ़ाइ दीनी मोहनै मिलाइ कै ।।१०३।।

विदग्ध दूती ने राधिका के घर जाकर उसके हृदय में कृष्ण से मिलने की ललक उद्दीप्त कर दी। उससे तरह-तरह की बातें कीं, उसका मन बहलाया, उसे प्रेम की कहानियाँ सुनाईं, उसे कृष्ण के नाना गुणों की कथाओं से अभिभूत किया और उसके हृदय में विरह के बीज बोकर चली गई। इस तरह उसने दोनों के मन का मेल करा दिया।

साँझ ही स्याम को लेन गई सु बसी बन मैं सब जामिनि जाइ कै।
सीरी बयार छिदे अधरा उरझे उर झाँखर झार मझाइ कै।
तेरी सी को करिहै करतूत हुती करिबे सो करी तै बनाइ कै।
भोरही आई भटू इत मो दुखदाइनि काज इतौ दुख पाइ कै ।।१०४।।

जिस दूती को नायिका ने कृष्ण को बुलाने के लिए भेजा था वह सारी रात जंगल में रही और सवेरे जब बिखरे हुए रूप-वेश में लौटी तो नायिका बड़ी ही विदग्धता से अपना अमर्ष व्यक्त कर रही है। उसके एक-एक वाक्य से ध्वनित होता हुआ उसका रोष देखने योग्य है।

द्वार तें दूरि करौ बहु वारनि हारनि बाँधि मृनालनि मार्‍यौ ।
छाँड़त ना अपनो अपराध असाधु सुभाव अगाध निहार्‍यौ ।
बैरिनि मेरी हँसैं सिगरी जब पाँइ परैं सु टरैं नहिं टार्‍यौ ।
ऐसे अनीठ सों ईठ कहै यह ढीठ बसीठिनि ही कौ बिगार्‍यौ ।।१०५।।

इस छन्द में धृष्ट नायक का वर्णन है जो बार-बार वर्जन करने पर भी अपराध करता ही रहता है, बाज नहीं आता। अपराध की याद दिलाने पर वह नायिका के पैर पड़ता है पर फिर भी अपकर्म किये ही जाता है। नायिका इस तथ्य से अवगत है कि इस ढीठ नायक को उसकी दूती ने ही बिगाड़ रखा है।

सौगुने सील सुभाइ भरे जिनके जिय औगुन एकु न पावै ।
मेरियै बात सुनै समुझै मनभावन मोहि महा मन भावै ।
देव कौ चित्त चितौनि न चंचल चंचलनैनी कितौ चितवावै ।
आँखिहू राखेहू ना खरकै हरि क्यों तिन्हैं लोक अलोक लगावै ।।१०६।।

यह छन्द नायक के उज्ज्वल चरित्र पर प्रकाश डालता है। वह नायिका की बात मानता है और उसके कथनानुसार ही आचरण करता है। औरों के लाख आकर्षित करने पर भी वह किसी की ओर देखता तक नहीं, फिर भी जाने क्यों, लोग उसे अपयश लगाते हैं।

पीत पटी लौं कटी लपटी रहै छैल छरी लौं खरी पकरी है ।
कान्ह के कंठ की कंठी भई बनमाल ह्वै बाल हिये पसरी है ।
कान लगी कवि देव ह्वै कुंडल बाँसुरी लौं अधरान धरी है ।
मूढ़ चढ़ी सिरमौर ह्वै री गहनो सब ग्वालि गोपाल करी है ।।१०७।

कृष्ण के प्रति नायिका की आसक्ति की अनन्यता देखने योग्य है। वह कृष्ण के अंग-अंग का वस्त्राभूषण बनी हुई है। कृष्ण के अंग-अंग के प्रति उसका मोह है। उसकी रीझ नीरन्ध्र है। कृष्ण ने भी उसे सिर चढ़ा रखा

है और उसे अपने कानों का कुण्डल और अधरों की वंशी बना रखा है। इस प्रकार के भाव अन्य कवियों ने भी उपस्थित किये हैं—

(क) होत रहै मन यौं मतिराम कहूँ बन जाइ बड़ौ तप कीजै।
हवै बनमाल गरैं लगियै अरु ह्वै मुरली अधरा रसु पीजै॥
(मतिराम)

(ख) मैं मनमोहन की मुरली भई, मेरे भए मुरलीधर माला।
(बिहारीलाल : बिजावर)

कालिह परीं लगि खेलत ही कबहूँ न कहूँ यह घूंघट काढ़्यौ।
आजु ही भौंह मरोरि चली तनु तोरि जनावत जोवन गाढ़्यौ।
नैननि कोटि कटाच्छ करै कवि देव सु बैननि कौ रस बाढ़्यौ।
नैकु चितै चितवै चितु दै तित मैन मनो दिन द्वैक तें ठाढ़्यौ॥१०८॥

यह छन्द नवल अनंगा का उदाहरण है। कल तक जो खेला करती थी, आज वह यौवन-सुलभ आचरण करने लगी है और उसकी बातों में भी फर्क आ गया है। जरा देखो तो उसकी तरफ; लगता है दो-एक दिन से उसमें कामदेव की प्रतिष्ठा हो गई है।

आजु रिसौहीं न सौंही चितौति कितौन सखी पति प्रेम पढ़ावै।
नाह सों नेह को नातौ न नेकु जऊ पर पाइ प्रतीति बढ़ावै।
पीठ दै बैठीं अमैठि सी डीठ कै कोइन कोप की ओप कढ़ावै।
तीर से तानि तिरीछे कटाछ कमान सी भामिनि भौंहैं चढ़ावै॥१०९॥

यह चित्र अत्यन्त रोषमयी नायिका का है जिसमें सहृदयता का पर्याप्त अभाव है तथा तमोगुण की जिसमें प्रधानता है। वह सीधे देखती ही नहीं, सखी मैं प्रेम-संबंध के स्थापन की सलाह देती है किन्तु उसका कोप ढीला होना ही नहीं जानता।

राति रहै रति मानि कहूँ अरु दोष भरी नित ही इत आवै ।
जो कहियै कि कहा है कहौ तब झूठी हजारक बातैं बनावै ।
और सी और के आगे कहै कवि देव जू मोरी सी मोहि सुनावै ।
या सठ को हटको न भटू उठि भोर की बार किवार खुलावै ॥११०॥

इस छन्द में शठ नायक का वर्णन है जिसकी प्रीति एकनिष्ठ नहीं है; जो झूठी-झूठी बातें बना-बनाकर हरएक को ठगता है। सबके सामने उनके जैसी बातें करता है और हरएक के प्रति अपनी निष्ठा और ईमानदारी जतलाता है। रात्रि जो अन्यत्र व्यतीत करता है और प्रातः अपनी प्रिया के समीप आता है।

लीला

राखी न कलप तीनों काल बिकलप मेटि
कीनो संकलप, पै न दीनो जाचकनि जोखि ।
नाग, नर, देव महिमा गनत नन्दजू की,
माँगन जु आयौ, सो न आँगन ते गयौ रोखि ।
दए सब सुख, गए बन्दी न बिमुख देव-
पितर अनंदी भए नंदीमुख-मख पोखि ।
घरनि-घरनि सुर-घरनि सराहैं सबै,
धरनि मैं धन्य नन्द घरनि तिहारी कोखि ।।१११।।

कृष्णावतार पर नन्द और यशोदा के गुण-समूहों का इस छन्द में कीर्तन किया गया है। अलंकार—वीप्सा, यमक ।

मोर को मुकुट, कटि पीत पटु कस्यो, कैसी
केसावलि ऊपर बदन सरदिंदु के ।
सुन्दर कपोलन पै कुण्डल हलत, सुर
मुरली मधुर मिले हाँसी रस बिन्दु के ।
माँगती सुहाग, नाग-सुन्दरी सराहि भागु,
जोरे कर सरन चरन अरबिन्दु के ।
किंकिन रहनि ताल ताननि तननि देव,
नाचन गुबिंदु फन फननि फनिन्दु के ।।११२।।

इस छन्द में कालिया नाग को नाथने वाले श्रीकृष्ण की महिमामयी रूप-छवि का चित्र अंकित किया गया है। रूपक और अनुप्रास के साथ-साथ शब्दावली की अनुरणन-ध्वनि अत्यन्त प्रीतिकर है ।

ग्वालि गई इक ह्याँ की उहाँ मधि रोकि सुती मिसु के दधिदान कौ।
वा तो भटू वह भेंटी भुजा भरि नातौ निकासि कछू पहिचान कौ।
आई निछावर कै मनमानिक गोरस दै रस लै अधरान कौ।
वाही दिना ते हिये में गड़ौ वह ढीठ बड़ौ बड़री अँखियान कौ ॥११३॥

यह छन्द दान-लीला या दान-प्रसंग का है। एक ग्वालिनी के प्रणय-प्रसंग का वर्णन है और उस प्रसंग के परवर्ती प्रभाव का भी। तृतीय चरण में रूपक है।

गूजरी! ऊजरे जोबन कौ कछु मोल कहौ, दधि को तब्र दैहौं।
'देव' इतो इतराहु नहीं, ई नहीं मृदु बोल न मोल बिकै हौं।
मोल कहा अनमोल बिकाहुगी, ऐंचि जबै अधरा-रसु लैहौं।
कैसी कही, फिरि तौ कहौ कान्ह, अबै कछू हौं हूँ ककाकि सौं कैहौं ॥११४॥

इसे छन्द में दानलीला का प्रसंग वर्णित है। उस प्रसंग में कृष्ण और गोपिका की कुछ बातचीत या कहासुनी का चित्रग है। कृष्ण उसे छेड़ते हैं और कुछ अधिक प्रगलभता-भरी बातें करते हैं। गोपिका भी ढीठ है और निर्भीक। कृष्ण में पुरुषोचित असंयम है, गोपिका में स्त्रियोचित संयम। यह छन्द केशवदास के छन्दों में विन्यस्त कथन-प्रतिकथन प्रणाली का स्मरण कराता है।

कंपत हियौ, न हियौ कंपत हमारौ, क्यों
हँसी तुम्हैं अनोखी नेकु सीत में ससन देहु।
अंबर हरैया हरि अंबर उज्यारौ होत,
हेरि कै हँसै न कोई, हँसै तो हँसन देहु।
'देव' दुति देखिबे को लोयन मैं लागी लखौ,
लोयन मैं लाज लागी, लोयन लसन देहु।
हमारे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अबहूँ बसन देहु, ब्रज में बसन देहु ॥११५॥

इस छन्द मे पूरा वार्तालाप है कृष्ण और गोपियों का, तथा प्रसंग है चीर-हरण का। छंन्द का सारा सौन्दर्य कथनों-प्रतिकथनों के साथ-साथ प्रयुक्त शाब्दिक चमत्कार में है। अलंकार—यमक।

घोर तरु नीजन बिपिन तरुनीजन ह्वै
निकसीं निसंक निसि आतुर अतंक मैं।
गनैं न कलंक मृदु-लंकनि मयंक मुखी
पंकज-पगन धाईं भागि निसि पंक मैं।
भूषननि भूलि पैन्हे उलटे दुकूल 'देव'
खुले भुजमूल प्रतिकूल विधि बंक मैं।
चूल्हे चढ़े छाँड़े उफनात दूध-भाँड़े, उन
पूत छाँड़े अंक, पति छाँड़े परजंक मैं ।।११६।।

ब्रज की गोपियाँ कृष्ण की मुरली का नाद सुनकर कितनी आतुरता से कालिन्दी-तट की ओर भागती थीं। मार्ग की बनानी की उन्हें लेशमात्र भी परवाह न होती थी। सघन वन-प्रान्तर से बेतहाशा दौड़ती हुई वे कृष्ण की ओर खिची चली जाती थीं। नीजन—निर्जन। अतंक—भय, आतंक। मृदु लंकनि—कोमल कटि वाली। हड़बड़ी में वे कहीं के गहने कहीं पहन लेती हैं। वस्त्र भी सीधे की जगह उलटे ही धारण करके चल देती हैं। घर में क्या हो रहा है, क्या करना है इसकी उन्हें कोई सुध नहीं, कोई परवाह नहीं। इस छन्द में सानुप्रासिक पदावली के साथ यमक अलंकार तथा विलास और विभ्रम हाव दर्शनीय हैं।

जावद वृन्द जौ लेन पठाए न तौ धनु गोधनु लै सबु जैयै।
या लरिकाहि कहा करिहै नृप गोप-समूह सबै सँग ह्वैयै।
तौ ही लौं जीवनु मो ब्रज, जौ लगि खेलतु साथ लिए बलभैयै।
सर्वसु कंस हरौ न अभै, किन आँखिनु ओट करो न कन्हैयै ।।११७।।

इस छन्द में कंस द्वारा कृष्ण के बुलाए जाने पर यशोदा की मनोकथा का चित्रण है।

वार वड़े उमड़े जैवे को, हौं न तुम्हैं पठवों वलिहारी।
मेरे तौ जीवन देव यही धनु या ब्रज पाई मैं भीख तिहारी।
जानै न रीति अथाइन की नित गाइन मैं वनभूमि तिहारी।
याहि कोऊ पहिचानै कहा, कछु जानै कहा मेरौ कुंज विहारी ।।११८।।

कंस के बुलाने पर कृष्ण को भेजने के लिए यशोदा तैयार नहीं हैं। मातृ-हृदय के कुछ तर्क इस छन्द में दिये गए हैं।

उद्धव-गोपी प्रसंग

रावरो रूप रह्यौ भरि नैननि बैननि के रस सों श्रुति सानौ।
गात मैं देखत गात तिहारोई बात तिहारोई बात बखानौ।
ऊधो हहा हरि सों कहियो तुम हौ न इहाँ यह हौं नहिं मानौं।
या तन तें बिछुरे तो कहा मन तैं अनतैं जु बसौ तब जानौं ।।११९।।

इस छन्द में प्रेम की एक ऊँची मनोभूमि का कवि स्पर्श कर सका है जिसमें प्रिय और प्रेमी एकाकार हो रहे हैं। यह उक्ति गोपिकाओं की है और उद्धव को निवेदित है।

जो न जी मैं प्रेम तब कीजै व्रत नेम
जब कंजमुख भूले तब संजम बिसेषिये।
आस नहीं पी की तब आसनही बाँधियतु
सासन के सासन को मूँदि पति पेखिये।
नख तें सिखा लौं सब स्याम मई वाम भई
बाहिर हू भीतर न दूजो देव देखिये।
जोग करि मिलौ जो वियोग होई बालम सों
ह्या न हरि होइ तब ध्यान धरि देखिये ।।१२०।।

यह बहुत ही सुन्दर छन्द है और उद्धव-गोपी प्रसंग का जान पड़ता है। गोपियों की उक्ति है कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, संयम आदि प्रेमी के लिए नहीं हुआ करते। जिसके हृदय में प्रियतम सदा बसा हुआ है, जिसका प्रिय से वियोग ही नहीं है, उसे योग की भला क्या आवश्यकता है? यह बहुत ही सुन्दर सशक्त और मार्मिक उक्ति है। देव की सामर्थ्य का बोध कराने वाले छन्दों में से यह एक है।

मोहन भाइ भये मथुरापति देव महा पद सों मदमातो ।
कोरे परे अब कूबरी के हरि याते कियो हमसों हित हातो ।
गोकुल गाँव के गोप गरीब हैं बाँसु बराबर ही को इहाँ तो ।
बैठि रहौ सपनेहू सुन्यो कहुँ राजनि सों परजानि सों नातो ।।१२१।।

इस छन्द में कृष्ण के न आने से खिन्न और कुब्जा की प्रणय-कथाएँ सुन-सुनकर विक्षुब्ध हुईं गोपियों के व्यंग्य वचन अंकित हुए हैं। भाषा की मुहावरेदानी और व्यंजकता देखने योग्य है।

को हमको तुमसे तपसी विनु जोग सिखावन आइहै ऊधौ ।
पै यहि पूछिये जू उनको सुधि पाछिली आवति है कबहूँ धौं ।
एक भली भई भूप भये अरु भूलि गये दधि माखन दूधौ ।
कूबरी सी अति सूधी वधू को मिल्यौ वर देव जू स्याम सो सूधौ ।।१२२।।

इस छन्द में गोपियाँ कृष्ण पर अनेक व्यंग्य करती हैं। उनका मन खट्टा हो गया है। ब्रजवासी कृष्ण से मथुरावासी कृष्ण भिन्न हो गए हैं। वे तो अब मथुराधिपति हैं। गोपियाँ कहती हैं हमारी याद करना तो दूर, हम उनकी कोई हैं, यह भी उन्हें शायद ही याद हो। वे कहती हैं कि एक तो बढ़िया बात यह हुई है कि कृष्ण जो माखन-दही चुराया करते थे और गोरस आदि का दान माँगते फिरते थे वे अब राजा हो गए हैं; और दूसरी बढ़िया बात यह हो गई है कि उन्हें अब कुब्जा-जैसी सीधी बहू मिल गई है। गहरे व्यंग्य से यह छन्द आपूर है।

भक्ति, वैराग्य एवं तत्त्व-चिन्तन

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो नरलोक परलोक वर लोकनि में
लीन्हीं मैं अलीक लोक-लोकनि तें न्यारी हौं।
तन जाऊँ मन जाऊँ 'देव' गुरुजन जाऊँ
प्रान किन जाउ, टेक टरति न टारी हौं।
बृन्दाबन वारी बनवारी की मुकुटवारी
पीत पटवारी वाही मूरति पै वारी हौं ।।१२३।

यहाँ पर गोपिका की अविचल रूपासक्ति, प्रेमासक्ति अथवा भक्ति-भावना के दर्शन होते हैं। वह कृष्ण के रूप की दीवानी होकर अपना सब-कुछ छोड़ बैठी है। लोकलज्जा, निंदा, कलंक, कुल-परिवार यहाँ तक कि प्राणों की भी उसे परवाह नहीं है। अपने आराध्य के प्रति ऐसी अनन्य निष्ठा और तड़प से प्रेरित होने के कारण ही यह छन्द इतना मार्मिक बन पड़ा है। देव का यह छन्द बहुत प्रसिद्ध है। इसे देव की निजी प्रीति और भक्ति का भी व्यंजक कहा जा सकता है।

कथा मैं न, कंथा मैं न, तीरथ के पंथा मैं न,
पोथी मैं न, पाथ मैं न, साथ की बसीत मैं।
जटा मैं न मुण्डन न, तिलक त्रिपुण्डन न,
नदी-कूप-कुण्डन अन्हान दान-रीति मैं।
पैठ-मठ-मण्डल न, कुण्डल कमण्डल न,
माला-दण्ड मैं न, 'देव' देहरे की भीति मैं।
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइए प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं ।।१२४।।

परमेश्वर की प्राप्ति हृदय की प्रीति से ही संभव है। हृदय में ही उसका निवास है और हृदय में ही वह मिलता है। जहाँ तक ईश्वर-प्रेम या भक्ति के आडंबरों का प्रश्न है, ईश्वर उनसे मिलता नहीं। वेशभूषा एक विशेष प्रकार की करने से ईश्वर हमारे निकट आ जाता हो, ऐसी बात नहीं है। विशुद्ध प्रेम से ही वह प्राप्त किया जा सकता है।

भूलि हूँ कढ़ै जो कटु बोल, तौ कढ़ाऊँ जीभ,
छार डारौं आँखिन की आँसू झलकनि पै।
कौन कहै कैसी सौति सो तौ ठकुरायनि,
लिखी है ब्रज-बालन के भाल फलकनि पै।
ह्वै रहौं नजीकी पै न जी की दुचिताई गहौं,
पी की प्रानप्यारी लहौं नीकौ ललकनि पै।
दूजो नहिं देव, 'देव' पूजौं राधिका के पद,
पलक न लाऊँ धरि लाऊँ पलकनि पै ॥१२५॥

ब्रजांगनाओं में पारस्परिक ईर्ष्या का अभाव है। सच्चे भक्त को भक्त से ईर्ष्या नहीं हुआ करती। सभी जीवात्माएँ परमात्मा के प्रति लगाव रखती हैं परन्तु वे पारस्परिक द्वेष से आक्रांत नहीं होतीं। यहाँ पर यही दिखलाया गया है। राधा प्रत्येक गोपिका के सिर-आँखों है। उसकी सी प्रणय-पिपासा, अनुरक्ति और निष्ठा औरों में नहीं। पर औरों को उसके प्रति द्वेष या दुर्भावना नहीं। इसी से सिद्ध है कि गोपियों का प्रेम लौकिक भूमिका पर नहीं था। अलंकार—रूपक, यमक।

हौं ही ब्रज बृन्दावन मोहिं में बसत सदा
जमुना-तरंग स्यामरंग अवलीन की।
चहुँ ओर सुन्दर सघन बन देखियतु,
कुंजनि में सुनियतु गुंजनि अलीन की।
बंसीबट-तट नटनागर नटतु मो मैं,
रास के विलास की मधुर-धुनि बीन की।
भरि रही भनक, बनक ताल-तानन की
तनक-तनक तामैं झनक चुरीन की ॥१२६॥

इस छन्द में भक्त अपने आराध्य, उसकी रसकेलि और उसके रसलोक को स्वयं से अभिन्न समझता है। इसमें भक्ति-भावना का गाढ़-गंभीर स्वरूप झलकता है। अवलीन—अवलियाँ, पंक्तियाँ। अलीन—भौंरों। नटतु—नृत्य करते हैं। मो मैं—मुझमें। भनक—आहट, आवाज़। बनक—वेश, सौन्दर्य। तनक-तनक—थोड़ी-थोड़ी। झनक—झनझनाहट, आवाज़। चुरीन की—चूड़ियों की।

पायन नूपुर मंजु बजै, कटि किंकिन मैं धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पटपीत, हियें हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचंद-जुन्हाई।
जै जग-मंदिर-दीपक सुन्दर श्री ब्रज-दूलह देव सहाई ॥१२७॥

इस छन्द में श्री कृष्ण का स्तवन है। इसे मंगलाचरण का छन्द भी कहा जा सकता है तथा मंगलाचरण के तीनों प्रमुख प्रकारों—नमस्क्रियात्मक या गुणस्तवनात्मक, वस्तुनिर्देशात्मक और आशीर्वादात्मक—का इसमें समाहार हो गया है। देव कवि ने इसमें आराध्य का रूप-चित्रण और गुण-कथन तो किया ही है, 'जग-मंदिर-दीपक' कहकर रूपक के माध्यम से माहात्म्य-गान भी किया है।

सूनो कै परम-पदु, ऊनों कै अनंत मदु,
दूनौ कै नदीस नद इन्दिरा फुरै परी।
महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रज-बीथि बिथुरै परी।
भादौं की अँधेरी अधराति, मथुरा के पथ,
आई मनोरथ देव देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन, अपार परब्रह्म रासि
जसुदा के कोरे एक बारक कुरै परी ॥१२८॥

परमपद—मोक्ष। ऊनों कै—कम करके। इन्दिरा—लक्ष्मी। ईसन—ऐश्वर्यशाली। बिथुरै परी—फैली पड़ती है। कोरे—गोद में। बारक—बालक।

कुरै परी—डाल दी, भर दी। भादों की अँधेरी अर्धरात्रि में श्री कृष्ण का देवकी की कोख से जन्म कोई साधारण घटना नहीं है। सृष्टि की समस्त समृद्धियाँ कृष्ण के साथ-साथ ब्रज में आकर निवास करने लगती हैं। कृष्णावतार को लेकर ऐसा समर्थ छन्द ब्रजभाषा का कोई दूसरा कवि नहीं लिख सका है। छन्द की गरिमा और प्रवाह दर्शनीय है।

औचक अगाध सिंधु स्याही कौ उमँगि आयौ
तामें तीनों लोक बूड़ि गये एक संग मैं।
कारे-कारे कागद लिखे ज्यों कारे आखर
न्यारे करि बाँचै कौन नाचै चित भंग मैं।
आँखन में तिमिर अमावस की रैनि अरु
जंबूरस बूंदि जमुना-जल-तरंग मैं।
यों ही मन मेरौ मेरे काम कौ न रह्यौ 'देव'
स्यामरंग ह्वै करि समान्यौ स्याम रंग मैं ॥१२६।

यहाँ पर श्री कृष्ण के प्रति गोपिका की (कवि की) अनुरक्ति का वर्णन है। कृष्ण का मोहक श्यामवर्ण ही चतुर्दिक् गोचर हो रहा है। उसमें सृष्टि के अन्य उपकरणों का अस्तित्व तो समाप्त हो ही गया है, स्वयं कवि गोपी प्रेमी अथवा प्रेमिका भी अनस्तित्ववाद हो गए हैं वैसे ही जैसे जामुन का रस-बिन्दु यमुना की जलधारा में मिलकर अस्तित्वशेष हो जाता है। कवि का मन श्याम वर्ण में मिलकर श्याम ही हो जाता है।

भावाभिव्यक्तिगत वैषम्य के लिए बिहारी की इन पंक्तियों से देव की उक्ति की तुलना कीजिये—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम रँग त्यौं-त्यौं उज्ज्वल होय॥

यहाँ पर श्याम वर्णच्छटा का ही सर्वदिक् प्रसार प्रधान हो उठा है। श्याम वर्ण के चाक्षुष बिंब देखे जा सकते हैं।

पावक मैं धसि आँच लगै न, बिना छत खाँडे कि धार पे धावै।
मीत सों भीत, अभीत अमीत सों, दुक्ख सुखी, सुख मैं दुख पावै।
जोगी ह्वै आठ हू जाम जगै, अठ जामनि कामनि सौं मनु लावै।
आगिनो पाछिलो सोचि सबै फल कृत्य करै, तब भृत्य कहावै ॥१३०॥

भृत्य अर्थात् दास या सेवक होना कोई आसान बात नहीं। विपत्तियों को सहना, संकट में काम आना, दुःख-सुख से निरपेक्ष रहना, योगी के समान कठोर जीवन का व्रत लेना तथा आठों पहर कर्म-सन्नद्ध रहना और आगा-पीछा सोच कर काम करना—ये सारे गुण जिस व्यक्ति में एकत्र हों, वही सेवक या दास कहला सकता है। सेवा महान् धर्म और व्रत है। हर कोई इसके योग्य नहीं कहा जा सकता। अलंकार—विरोधाभास।

प्रेम-पयोधि परौ गहिरे अभिमान कौ फेन रह्यौ गहि रे मन।
कोप-तरंगनि सो बहि रे पछिताय पुकारत क्यों बहिरे मन।
'देवजू' लाज-जहाज तें कूदि रह्यौ मुख मूंदि अजौं रहि रे मन।
जोरत तोरत प्रीति तुहीं, अब तेरी अनीति तुहीं सहि रे मन ॥१३१॥

पयोधि--समुद्र। फेन—निस्सार वस्तु। अलंकार—रूपक प्रथम, द्वितीय और तृतीय चरण; यमक प्रथम और द्वितीय चरण। इस छन्द में कवि ने अपने मन या मनुष्य के मन को फटकारा है।

तेरो कह्यौ करि-करि जीवन रह्यौ जरि-जरि
हारी पाँय परि-परि तऊ तै न की सँभार।
ललन बिलोकि 'देव' पलन लगाये तब
यौं कल न दीनी तैं छलल उछलन हार।
ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौं बँभाई
आपु बिधि बूड़यौ माँझ बाधा-सिंधु निरधार।
एरे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीन्हें पल
एकैबार देकैं तोहि मूँदिमारौं एकै बार ॥१३२॥

इस छन्द में भी आत्म-निरीक्षण करता हुआ कवि अपने मन को लताड़ रहा है। मनुष्य मन की प्रवृत्तियों के ही वश में होकर अनगिनत अकरणीय कर्म करता है और परिणामस्वरूप असंख्य दुःख सहता है। ऐसे मन का दमन आवश्यक है। कबीर आदि इसी लिए कह गए हैं—

मैंसंता मन मारि रे, नान्हा करि करि पीस ।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै सीस ।।

सँभार—चिंता, परवाह । छलल—चंचल । बँभाई—चक्कर खाया । निरधार—निश्चय । अलंकार—तृतीय चरण में रूपक ।

ऐसो जो हौं जानतौ कि जैहै तूं विषै के संग
एरे मन मेरे हाथ-पाँव तेरे तोरतौ ।
आजुलौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि
नेह सो निहारि हारि बदन निहोरतौ ।
चलन न देतौ 'देव' चंचल अचल करि
चाबुक-चितावनीन मारि मुँह मोरतौ ।
भारी प्रेम-पाथर नगारौ दै गरे सों बाँधि
राधावर-बिरद के बारिधि मैं बोरतौ ।।१३३।।

देव का यह छन्द बहुत ही प्रसिद्ध है जिसमें चंचल मन को ठोंक-पीटकर ठीक करने का कवि ने संकल्प किया है । अंतिम चरण काव्यात्मकता की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट है । चेतावनियों के चाबुक, प्रेम के पत्थर और बिरद के बारिधि में सांगरूपक का निर्वाह हुआ है ।

हाय दई यहि काल के ख्याल मैं फूल-से फूलि सबै कुम्हिलाने ।
'देव' अदेव बली बल-हीन चले गए मोह की हौंस हिलाने ।
या जग बीच बचे नहिं मीचु पै, जे उपजे ते मही मैं मिलाने ।
रूप, कुरूप, गुनी, निगुनी, जे जहाँ जनमे, ते तहाँई बिलाने ।।१३४।।

इस छन्द में संसार की नश्वरता वर्णित हुई है । मृत्यु ने हरएक को खा लिया—परम अशक्त और परम सशक्त सभी को । अभिमान करके कोई बचा नहीं । अभीष्ट अभिप्राय यह है कि सद्गुणों का विकास करके और सत्कर्मों में प्रवृत्त होकर मनुष्य को अपने जीवन के अभ्युदय के मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए ।

बाग्यौ बन्यौ जरतार कौ तामहिं ओस कौ हार तन्यौ मकरी नैं ।
पानी मैं पाहन-होत चल्यौ चढ़ि कागद की छतुरी सिर दीनै ।
काँख मैं बाँधि कै पाँख पतंग के देव सुसंग पतंग को लीनै ।
मोम के मंदिर माखन कौ मुनि वैठ्यौ हुतासन आसन कीने ।।१३५।।

देव का यह छन्द अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें बताया गया है कि मनुष्य का शरीर उस बाग्यौ अर्थात् शोभा-वस्त्र की भाँति है जिस पर ज़री का काम किया हुआ होता है। उसने ओस के (शीघ्र ही विनष्ट होने वाले) हार पहन रखे हैं। वह पाहन (पत्थर) जैसा असमर्थ है। पत्थर का जहाज पानी में नहीं तैर सकता। मनुष्य भी आँधी-तूफान से भरे संसार-सागर में अत्यन्त क्षुद्र साधनों (कागद की छतुरी) के सहारे संतरण करना चाहता है जो सर्वथा असंभव है। वह चाहता है कि काँख में पतंगे (परवाने) के परम अशक्त पंखों के सहारे पतंग अर्थात् सूर्य तक पहुँच जाये। मोम के मंदिर (संसार) में माखन का मुनि (मनुष्य) हुतासन (अग्नि) पर आसन लगाकर बैठा हुआ है अर्थात् जो सर्वथा असंभव है उसे करना चाहता है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य परम अशक्त है, वह असंभव को संभव करना चाहता है। उसे लोक-मार्ग का त्याग करना पड़ेगा, परमोच्च अभ्युदय के लिए भिन्न मार्गों का सहारा लेना पड़ेगा—भक्ति, वैराग्य आदि का। अलंकार—विरोधाभास और रूपक।

जौ लगि जीवन है जग मैं नहिं तौ लगि जीव सुभाव टरैगौ ।
देव यहै जिय जानिये जू जन जो करि आयौ है सोई करैगौ ।
कोटि करौ कौउ प्रान हरे बिनु हारिल की लकड़ी न हरैगौ ।
भूले हू भौंर चलावै न चित्त जो चम्पक चौगुने फूल फरैगौ ।।१३६।।

यह छन्द मनुष्य के स्वभाव को लक्ष्य करके लिखा गया है। जिसकी जो आदत होती है वह छूटती नहीं; और जिसका जैसा स्वभाव होता है वह भी छूटता नहीं। व्यंजना यह है कि प्रेम करना मेरा स्वभाव है और वह अच्छा हो या बुरा, छूटेगा नहीं।

काम पर्‌यौ दुलही अरु दूलह, चाकर यार ते द्वार ही छूटे ।
माया के बाजने बाजि रए, परभात ही भातखवा उठि बूटे ।
आतसबाजी गईं छिन में छुटि, देखि अजौं उठि कै अँखि फूटे ।
देव दिखैयन दाग बनें रहे, बाग बने ते बरोठेई लूटे ।।१३७।।

मनुष्य को जीवन के वास्तविक सम्बन्धों को पहचानना चाहिए । आडम्बरों के फेर में नहीं पड़ना चाहिए । बाजे और आतिशबाजी और फुलवारी तो ऊपरी चीजें हैं और अल्पकालिक हैं । इनका महत्त्व सतही प्रदर्शन मात्र तक है । यह छन्द मनुष्य के लिए प्रबोधन के रूप में है । बाजने, भातखवा, चाकरयार, आतसबाजी, अँखिफूटे, दिखैयन और बाग आदि के लाक्षणिक या प्रतीकात्मक अर्थ भी लिये या किये जा सकते हैं ।

आवत आयु कौ द्यौस अथौत, गए रबि यों अँधियारिए ऐहै ।
दाम खरे दै खरीदु खरौ गुरु, मोह की गोनी न फेरि बिकैहै ।
देव छतीस की छाप बिना, जमराज जगाती महा दुख दैहै ।
जात उठी पुर देह की पैंठ, अरे बनिये बनियै नहिं रैहै ।।१३८।।

जीवन अधिक दिन का नहीं । मोह का धंधा अधिक समय चलने वाला नहीं, इसलिए सही गुरु की तलाश कर और संसार के प्रति लिप्सा की जगह वैराग्य का भाव रख, अन्यथा यमराज तुझे बहुत दुःख देगा । शरीर की पैंठ (बाज़ार) हमेशा चलने वाली नहीं । वह उठ जाय, इसके पहले ही हे मनुष्य, तू सचेत हो जा ! अलंकार—रूपक और यमक । अनेक प्रतीकों का यहाँ भी प्रयोग हुआ है ।

जानिए न जात पहिचानिए न आवत,
बितीत्यौ दिन-राति पै न रीत्यौ परिजातु है ।
जगत प्रवाह पथ अकथ अथाह देव,
दया के निबाह कहूँ कोई तरि जातु है ।
केते अभिमानी भए पानी के बबूला, कोई
बानी बीजु धरम धरा पै धरि जातु है ।
सबद रसायनि के अरथ उपायनि,
अमर तरु कायनि अमर करि जातु है ।।१३९।।

इस संसार में कितने ही लोग आते-जाते रहते हैं—जल के बुद्बुद की भाँति, पर वे लोग मोह-लोभ-अभिमान आदि से ग्रस्त साधारण व्यक्ति होते हैं। पृथ्वी में धर्म का बीज वपन करने वाला कोई एकाध व्यक्ति ही होता है। जो रस-धर शब्दों के मूल अर्थों को संधान कर जीवधारी को अमर बना दे वह तो कोई विरला महापुरुष ही होता है। यह छन्द पौरुषवान, योग्य, सच्चरित्र और महान् व्यक्ति के लिए लिखा गया है। किसी-किसी ने इसे कवि के प्रति कथित छन्द भी माना है। अलंकार—रूपक, उपमा, यमक।

जो कछु पुन्य अरन्य जल स्थल तीरथ खेत निकेत कहावै।
पूजन-जानन औ' जप-दान अन्हान परिक्रम गान गनावै।
और किते व्रत नेम उपास अरंभु कै 'देव' को दंभु दिखावै।
हैं सिगरे परपंच के नाच जु पै मन मैं सुगि साँच न आवै ॥१४०॥

मन में पवित्र सत्य की प्रतिष्ठा ही सर्वाधिक आवश्यक है। तीर्थ-व्रत यज्ञ-जप, दान-स्नान, नियम-उपवास आदि व्यर्थ हैं, प्रपंच है, दांभिकों की क्रियाएं हैं। सच्चे मनुष्य के लिए और ईश्वर-भक्त के लिए मूलवस्तु है हृदय में सत्य-की प्रतिष्ठा। आडम्बरों का त्याग और वास्तविक धर्म की पहचान ही मुख्य वस्तु है।

वेदन हूँ गने गुन गनै अनगने भेद,
भेद बिन जाकौ गुन निरगुन हू यहै।
केतिक विरंच्यौ महा सुखन को संच्यौ जहाँ,
बंच्यौ ब्रज भूप सोई परब्रह्म भूप है।
सोई सुनि सुनि अवराधा अब राधा-जस,
जानत न देव कोई कहा धौं अनूप है।
तेज है कि तप है कि सील है कि संपति है,
राग है कि रंग है कि रस है कि रूप है ॥१४१॥

इस छन्द में ईश्वर के स्वरूप का निर्वचन किया गया है। अलंकार—यमक, वीप्सा, संदेह।

गुरुजन-जावन मिल्यौ न भयौ दृढ़ दधि,
मथ्यौ न विवेक-रई 'देव' जो बनायगौ ।
माखन-मुकुति कहाँ छाँड्यौ न भुगुति जहाँ,
नेह बिनु सिगरौ सँवाद खेह नायगौ ।
बिलखत बच्यौ मूल कच्यौ, सच्यौ लोभ-भाँड़े,
तच्यौ क्रोध-आँच, पच्यौ मदन सिरायगौ ।
पायौ न सिरावन सलिल छिमा छींटन सों,
दूध-सौ जनम बिन जानें उफनायगौ ॥१४२॥

इस छन्द में कथ्य को सांगरूपक के माध्यम से, और एक बहुत ही सुन्दर तथा अछूते सांगरूपक के माध्यम से, प्रस्तुत किया गया है । दूध-सा जन्म बिना जाने (अनजाने में ही) उफनकर बह गया ।

'देव' जिये जब पूछौ तो पीर कौ, पार कहूँ लहि आवत नाहीं ।
सो सब झूठ मते मत के बरु, मौन सोऊ सहि आवत नाहीं ।
ह्वै नद-संग तरंगनि मैं मन फेन भयौ गहि आवत नाहीं ।
चाहै कह्यौ बहुतेरौ कछू, पै कहा कहिए, कहि आवत नाहीं ॥१४३॥

संसार में पीड़ा और व्यथा, छल-फरेब और प्रपंच का ही आधिक्य है । सब लोग झूठ का धन्धा कर रहे हैं । साधारण मनुष्य इस स्थिति को सुधार नहीं पाता और इससे उबर भी नहीं पाता । वह भी एक प्रकार से प्रवाह-पतित हो उसी प्रकार का आचरण करने लगता है । क्या कहें ! कहने को तो बहुत है, पर कुछ कहते नहीं बनता !

है अभिमान तजें सनमान बृथा अभिमान को मान बहैए ॥
देव दया करै सेवक जानि सुसील सुभाय सलौनी लहैए ।
का मुनि कै बिन मोल बिकाय न बोलन कोइ को मोल न हैए ।
पैए असीस लचैए जो सीस लची रहिए तब ऊँची कहैए ॥१४४॥

इस छन्द में मनुष्य को अभिमान के त्याग तथा नम्रता को धारण करने का उपदेश किया गया है। मधुर और विनयशील वाणी का आकर्षण कुछ और ही होता है। महत्त्व अभिमान का नहीं, विनम्रता का है।

साहेब अंध, मुसाहेब मूक, सभा बहिरी, रँग रीझ कौ माच्यौ।
भूल्यौ तहाँ भटक्यौ भट औघट बूड़िबे कौ कोउ कर्म न बाच्यौ।
भेष न सूझ्यौ, कह्यौ समुझ्यौ नबतायौ सुन्यो न कहा रुचि राच्यौ।
'देव' तहाँ, निबरे नट की, बिगरी मति कौ सिगरी निसि नाच्यौ ।।१४५।।

इस छन्द में बिहारी ने अपने समसामयिक राजनीतिक, प्रशासनिक एवं सामाजिक वातावरण का सांकेतिक चित्रण किया है। न्याय-अन्याय का जहाँ विवेक समाप्त हो गया हो, शासन करने वाले और अधिकारी-वर्ग जहाँ अंधे, गूँगे और बहरे हो गए हों, वहाँ योग्य व्यक्ति की कदर किस प्रकार हो सकती है? अँधेरे का ही साम्राज्य रहेगा।

हैं उपजे रज-बीज ही तें बिनसे हैं सबै छिति छार कै छाँड़े।
एक-से देखु, कछु न विसेखु ज्यौं एकै उन्हारि कुँभार के भाँड़े।
तापर आपुन ऊँच ह्वै, औरन नीच कै पाय पुजावत चाँड़े।
वेदन मूँदि करी इन दूँदि, सु सूद अपावन पावन पाँड़े ।।१४६।।

रज-बीज—रज और वीर्य। बिनसे हैं—विनष्ट हुए हैं। छिति—पृथ्वी। छार—क्षार, राख। उन्हारि—रूपाकार, शकल-सूरत, आकृति। तापर—उसके ऊपर। चाँड़े—प्रचण्ड। वेदन मूँदि—वेदों के असली अभिप्राय को छिपाकर, अंट-संट अर्थ लगाकर। दूँदि—द्वन्द्व, झगड़ा। सूद—शूद्र। पाँडे—ब्राह्मण। इस छन्द से यह तथ्य व्यक्त होता है कि देव मनुष्य की समानता मे आस्था रखते थे और जाति या कुल की तथाकथित उच्चता-हीनता में विश्वास नहीं रखते थे। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है जिसकी प्राप्ति रीतिकाल के अन्य कवियों में नहीं होती। इस दृष्टि से वे कबीर के कुछ निकट आ गए हैं।

मूढ़ कहैं मरिकैं फिरि पाइए, ह्याँ, जु लुटाइए भौन भरे कौ।
सो खल खोय खिस्यात खरे अवतार सुन्यौ कहुँ छारे परे कौ।
जीवत तौ ब्रत-भूख सुखौत, समीर महा सुर-रूख हरे कौ।
ऐसे असाधु असाधुन की बुधि, साधन देत सराध मरे कौ ॥१४७॥

इस छन्द में देव ने बहुत से प्रचलित विश्वासों का प्रत्याख्यान किया है। खल—दुष्ट। खोय—खोकर, गँवाकर। खिस्यात—खिसियाते हैं, लज्जानुभव करते हैं। 'अवतार सुन्यौ कहुँ छार परे कौ'—इस उक्ति की तुलना चार्वाक के इस कथन से कीजिये 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनर्जन्म न विद्यते।' सुखौत—सुखाते हैं। सुर-रूख—कल्पवृक्ष। सराध—श्राद्ध। इस तथा ऐसे अन्य छन्दों से स्पष्ट है कि देव बहुत सी प्रचलित रूढ़ियों और अंध-विश्वासों के विरोधी थे।

को तप कै सुरराज भयौ, जमराज कौ बंधन कौन खुलायौ।
मेरु मही मैं सही करिकैं, गथ ढेर कुबेर को कौन तुलायौ।
पाप न, पुन्य न, नर्क, न सर्ग, मरौ सुमरौ फिरि कौन बुलायौ।
झूठि ही वेद-पुरानन बाँचि, लबारन लोग भलेकैं भुलायौ ॥१४८॥

लबारन—झूठ का व्यापार करने वाले। भलेकैं—अच्छी तरह। गथ—संपदा। भुलायौ—भ्रम में डाल दिया। यहाँ पर देव कुछ स्वतन्त्रचेता व्यक्ति से जान पड़ रहे हैं। वे कुछ स्थापित मान्यताओं और मर्यादाओं की भर्त्सना-सी कर रहे हैं।

अग नग नाग नर किन्नर असुर सुर
प्रेत पसु पच्छी कोटि-कोटिन कढ़्यौ फिरै।
माया-गुन तत्त्व उपजत, बिनसत सत्त्व
काल की कला कौ ख्याल खाल मैं मढ़्यौ फिरै।
आपहीं भखत, भख, आपहीं अलख-लख,
'देव' कहूँ मूढ़, कहुं पंडित पढ़्यौ फिरै।
आपहीं हथ्यार, आप मारत, मरत आप
आपहीं कहार, आप पालकी चढ़्यौ फिरै ॥१४९॥

अग—जड़। कढ्यौ फिरै—निकले पड़ते हैं, पैदा होते हैं। इस छन्द का मूल कथ्य यही है कि इस सृष्टि में जो कुछ भी होता है उसके मूल में परमात्मा ही है।

मूढ़ ह्वै रह्यौ है, गूढ़ गति क्यों न ढूंढ़त है,
गूढ़चर इन्द्रिय अगूढ़ चार मारि दै।
बाहर हू भीतर निकारि अंधकार सब,
ग्यान की अगिनि सों अयान-बन बारि दै।
नेह भरे भाजन मैं कोमल अमल जोति,
ताकौ हू प्रकास चहुँ पुंजन पसारि दै।
आवै उमड़ा-सो मोह मेह घुमड़ा-सो 'देव',
माया कौ मड़ा-सो अँखियन तें उघारि दै ॥१५०॥

गूढ़चर—गुप्तचर। अयानबन—अज्ञान का जंगल। बारिदै—जला दे। पसारि दै—फैला दे। यहाँ पर मनुष्य को ऊर्ध्वगामी होने के लिए प्रेरित किया गया है। उमड़ा—घूम-घूम कर चारों ओर से फैल कर खूब घिरा या छाया हुआ। घुमड़ा—चक्कर, रोग, मूर्च्छा। मड़ा—मंडप, आच्छादक उपकरण। हमें ऐन्द्रिक आकर्षणों और उलझावों से मुक्त होने, अपने चतुर्दिक् फैले हुए अज्ञान के जाल को छिन्न करने, माया-मोह के मंडप को विनष्ट करने तथा प्रेम की ज्योति का प्रसार करने का संदेश या निर्देश दिया गया है। अंधकार, अज्ञानवन, नेहभरे भाजन, कोमल अमल ज्योति जैसे प्रतीकों के द्वारा कुछ सूक्ष्म संवेदनाओं को बहुत खूबसूरती से व्यंजित किया है। रूपक-जैसे प्रसाधनों का प्रयोग भी देखा जा सकता है।

तुहीं पंचतत्त्व, तुहीं सत्त्व रज, तम तुहीं
थावर औ जंगम जितेक भयौ भव मैं।
तेरे ये बिलास लौटि तोहीं मैं समान्यौ, कछू
जान्यौ न परत पहिचान्यौ जब जब मैं।
देख्यौ नहीं जात, तुहीं देखियतु जहाँ तहाँ,
दूसरौ न देख्यौ 'देव' तुहीं देख्यौ अब मैं।
सब की अमरमूरि, मारि सब धूरि कहै,
दूरि सबही तें भरिपूरि रह्यौ सब मैं ॥१५१॥

इस छन्द में ईश्वर की एकता, अद्वितीयता और सर्वव्यापकता का निर्वचन हुआ है। तुही—तूँ ही। थावर—स्थिर, जड़। जंगम—चेतन। बिलास—क्रीड़ा, विनोद। भरिपूरि—ओत-प्रोत।

छन्दानुक्रमणिका

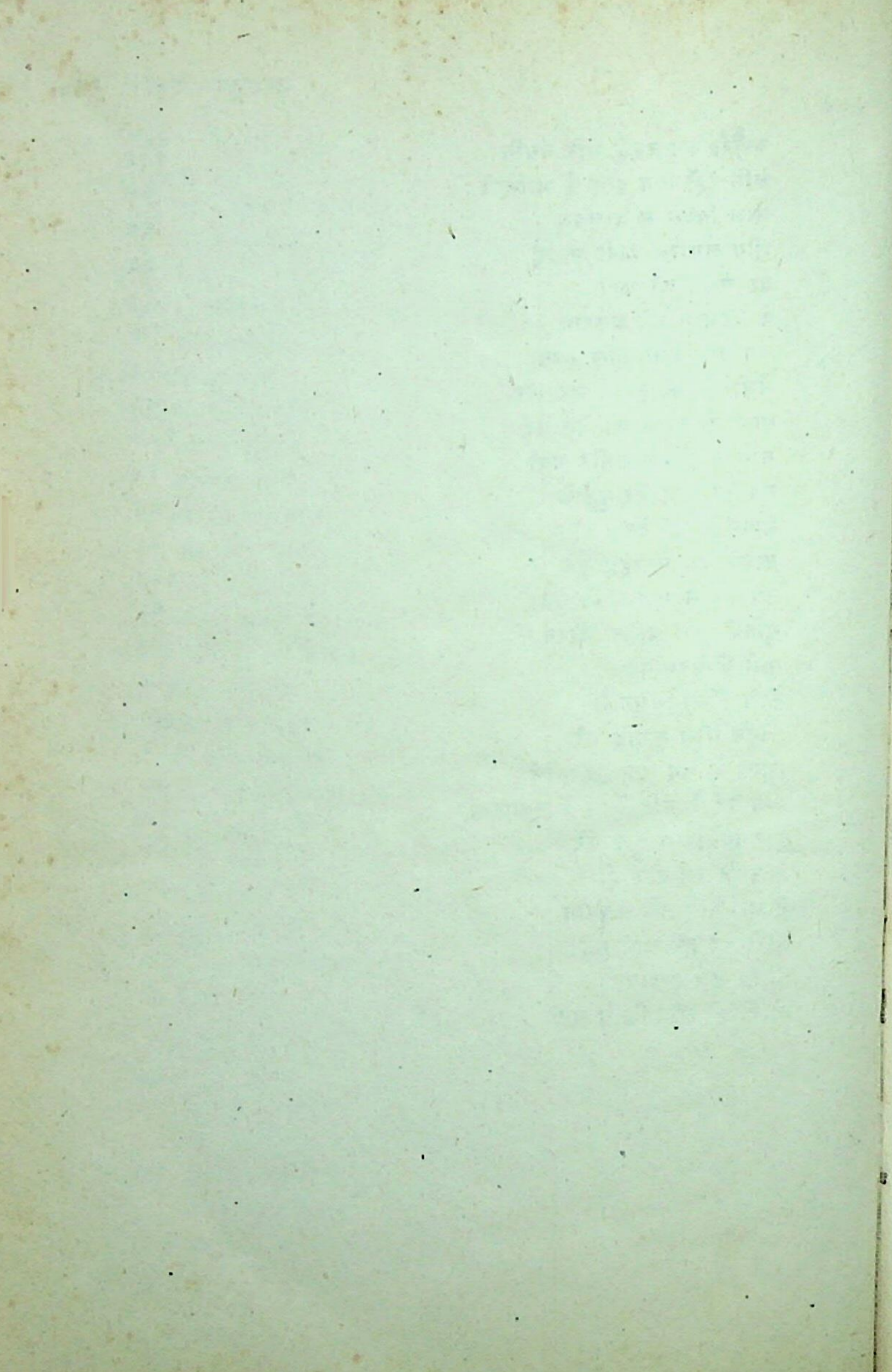
अग नग नाग नर किन्नर १४९
अनुराग के रंगनि रूप तरंगनि ३
अरुनि उदोत सकरन ह्वै ९४
आँखिन में पुतरी ह्वै रहै ४७
आइ बसंत लग्यो ८३
आई हौं देखि वधू इक ७
आगे आगे आसपास फैलति ६
आजु गई हुती कुंजन लौं ४९
आजु रिसौहीं न सौंही चितौति १०९
आयो बसंत लग्यो बरसावन ७९
आली झुलावति झूँकनि सों ५४
आवत आयु को द्यौस अथौल १३८
आस-पास पूरन प्रकास ९१
औचक अगाध सिंधु १२९
औरी कहा कोउ बाल बधू ४२
उज्ज्वल अखंड खंड ५७
उतै तो सघन घन ८९
उरसों लगी ही वधू ७५
एक तुही वृषभान सुता २१
ऐसी गुनी गरे लागत ही ५३
ऐसो जो हौं जानतो कि १३३
कंपत हियो न हियो कंपत ११५
कंत बिन बासर बसंत ६०

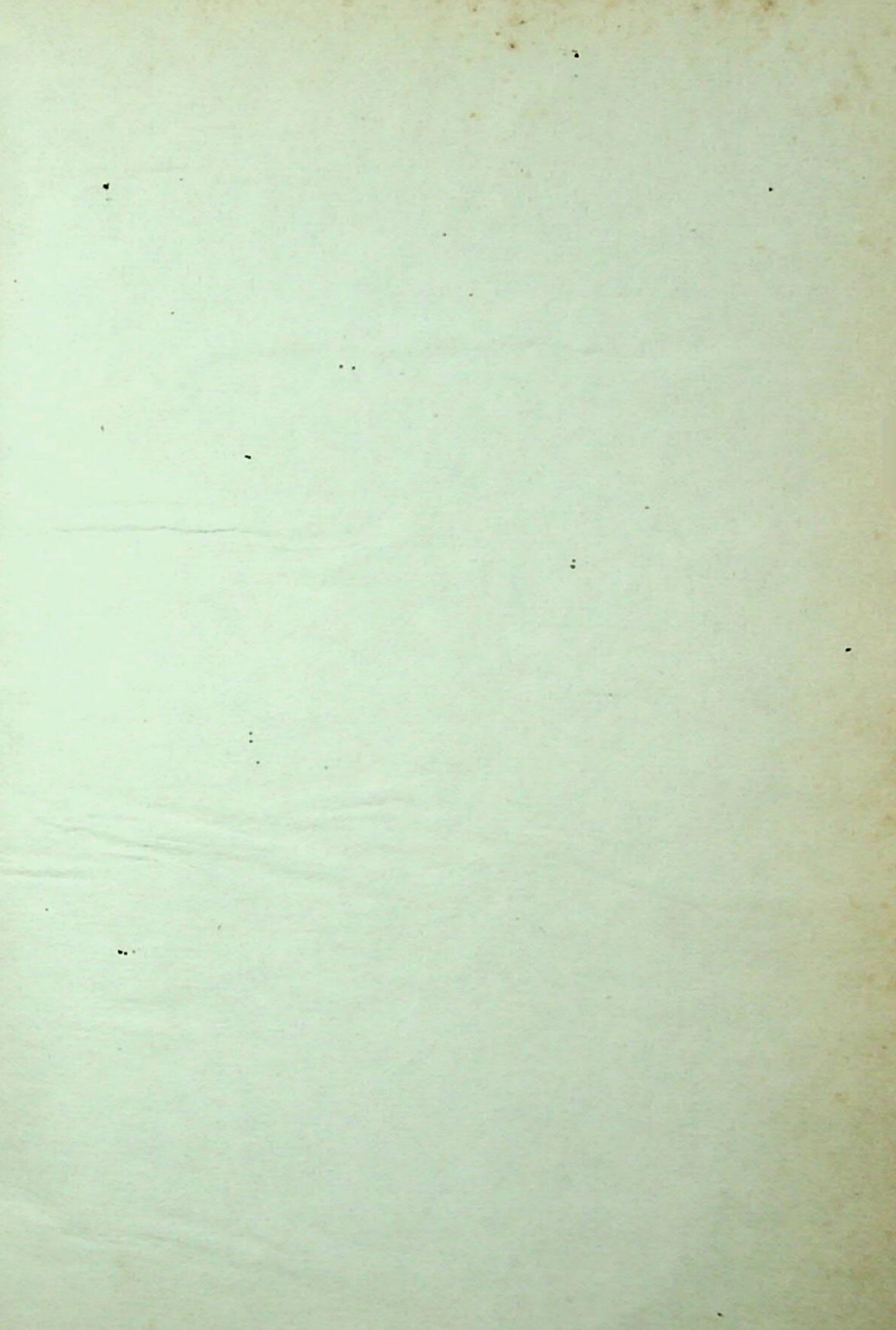
कथा मैं न कंथा मैं	१२४
कातिक पून्यो की राति ससी	५
कान भुराई पै कान न आनति	२८
काम पइयो दुलही अरु दूलह	१३७
कालि परों लगि खेलत ही	१०८
काहू की वंक चितैबे की	५०
केवली समूढ़ लाज	१५
केस भाल भृकुटि	१४
केसरि किंसुक औ कचनार	७७
कुंजनि के कोरे मनु	२५
कोउ कहौ कुलटा कुलीन	१२३
को तप कै सुरराज भयो	१४८
को हमको तुमसे तपसी बिनु	१२२
कौन के होइ न ही मैं हुलास	१२
खंजन मीन मृगीन की	१७
गंग तरंगिनि बीच बरंगनि	१३
गुरुजन-जावन मिल्यो न	१४२
गूजरी ! ऊजरे जोबन की	११४
गोकुल गाँव की गोपसुता	३५
गौने के चार चली दुलही	४८
ग्वालि गई इक ह्याँ की उहाँ	११३
घटा घहराति बिज्जु छटा	६६
घोर तरु नीजन बिपिन	११६
घोरि घनी घनसार सों केसरि	१००
चंदन हैं चंद हूँ सो	४६
चाँदनी महल बैठी चाँदनी के	५६
चित दै चितऊँ जित ओर सखी	४३
जब तें कुँवर कान्ह	६४
जाके न काम न क्रोध	६५
जागी न जुन्हैया यह आगी	६२
जाती हो जो इत वे जो मिलै	७०
जादव वृन्द जो लेन पठाए	११७
जा दिन तें वृजनाथ भटू	७२
जानिए न जात पहिचानिए	१३६

जाने न कोई जनायो न कान्ह ४४
जो कछु पुन्य अरन्य १४०
जो न जी मैं प्रेम १२०
जो लगि जीवन है जग मैं १३६
झहरि झहरि भीनी बूंद ६६
डार द्रुम पलना बिछौना नव ७४
तुही पंचतत्व तुहीं सत्व १५१
तेरी सी बेनी है स्याम अमा १०
तेरो कह्यो करि-करि १३२
त्रिबली तरंगनि निकट नाभि ८
दामिनि ह्वै रहिये मन आवत ३७
दूध सुधा मधु सिंधु १६
देखिबे को जिनको दिन राति ५२
देव कहै बिन कंत बसंत न ६७
'देव' जिये जब पूछी १४३
देव जू की दूती वृषभान १०३
'देव' न देखति हौं दुति २
देव मैं सीस बसायो १
'देव' सबै सुखदायक संपति ९६
द्वार तें दूरि-करी बहु बारनि १०५
धार में धाय धँसी १९
नेह सों नीचे निहारि ३०
पहिरो सतराइ रिसाइ सखी ३८
पायन नुपूर मंजु बजै १२७
पावक मैं बसि आँच लगै न १३०
पावरन पाँवड़े परे हैं ५८
पावस प्रथम पिय ८७
पीत पटी लौं कटी लपटी रहै १०७
प्यारी के प्रान समेत ८६
प्रेम-पयोधि परो गहिरे १३१
फटिक सिलानि सों ४
फूलि उठो वृन्दावन ७६
फूले अनारन पांडर डारन ८२
बँसुरी सुनि देखन दौरि चली ३१

बहनी बघंबर में गूदरी	६१
बारयो बन्यो जरतार को	१३५
बारे बड़े उमड़े सब जैबे को	११८
बाल को ज्योति बुलाइबे	५६
बाल बधू कें बिनोद बढ़ाइ	१०२
बाल बधू के बिचार यही	३४
बिरह के धाम ताई बाम	६२
बेदन हूँ गनें गुन गनैं	१४१
बेली नवेली लतानि सों	८०
बैठी बहू गुरु लोगनि में	५१
बोली न आँखिन तानि	२३
भूलि हूँ कहूँ जो कटु बोल	१२५
भोर ही भोरे ही	२०
भोर ही भौन मैं भावतो	६७
मंदहास चंद्रिका को मंदिर	११
माखन सो मन दूध-सो जोबन	२७
माधुरी भौंरनि फूलनि	८४
मारग हेरनि हौं कब की	६८
मालिन ह्वै धरि माल गुहै	१०१
मूढ़ कहैं मरिकैं फिरि पाइए	१४७
मूढ़ है रह्यो है गूढ़ गति	१५०
मेरेहु अंक जो आवै	३३
मैं सुनि कालिह परौं	२६
मोर को मुकुट कटि पीत	११२
मोहन आइ भए मथुरापति	१३१
मोही मैं वे किधौं हौं	२६
मौन गह्यो कल कंठ कपोतनि	२२
ये अँखियाँ बिनु काजर	१८
राखी न कलप तीनों काल	१११
राति रहै रति मानि कहूँ	११०
राधिका कान्ह को ध्यान धरैं	८३
राधिका सी सुर सिद्ध सुता	२४
राधे कही है कि तैं छमियो	७१
राधे के रूप निहारि सबै कबि	६

रावरो रूप रह्यो भरि नैननि	११६
रूठि रही दिन द्वैक तें भामिनी	३६
लाल विदेस सु बालबधू	६८
लोग लुगाइन होरी लगाई	५५
वा चकई को भयो	६३
वे बड़भाग भरे अनुराग	४०
संग ना सहेली केलि करत	४५
सँजोगिन की तू हरै उर-पीर	८५
साँझ ही स्याम को लेन गई	१०४
साँसनि ही सौं समीर गयो	६५
सुंदरता सुनि देव दुहूँ के	३६
सापने मैं गई देखन हौं	४१
साहेब अंध मुसाहेब मूक	१४५
सुधाकर से मुख बानि सुधा	६६
सुनिकैं धुनि चातक मोरन की	८८
सूनो कै परम-पदु	१२८
सोखे सिन्धु सिंधुर से	६०
सौगुने सील सुभाइ भरे	१०६
स्याम के संग सदा हम डोलैं	७८
हाय दई ! यहि काल के ख्याल में	१३४
हार बिहार मैं टूटि परे	३२
हैं उपजे रज़-बीज ही तें	१४६
है अभिमान तजे सनमान	१४४
होरी हरे हरे आइ गई	८१
हौं ही ब्रज वृन्दावन	१०३
हौं ही हौं और कि ये सब	३३







मयूर
पेपरबैक्स
ए -95. सेक्टर -5.
नोएडा -201301

पेपरबैक डिवीजन
के. एल. मलिक एण्ड संस प्रा. लि.
23- दरियागंज, नयी दिल्ली -110002

ISBN 81-7198-039-2

मूल्य : 20.00